मानव जीवन और पर्यावरण

प्रो0 अमिता सिंह

समाजशास्त्र विमाग, महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ वाराणसी

''परितः आब्रियतेऽनेनेति पर्यावरणम्'' अर्थात् पर्यावरण शब्द की व्याकरणगत व्युत्पत्ति है कि जो मानव के चारों ओर आच्छादित है वह सब कुछ पर्यावरण ही है। जैसे– वृक्ष, वनस्पतियाँ, नदी–नद निर्झर सभी प्रकार के जीव जन्तु आदि। पर्यावरण को यदि हम और भी व्यापक रूप प्रदान करना चाहें तो हम कह सकते है कि हमारा जीवन ही जिस पर निर्भर करता है वह सब कुछ पर्यावरण ही है। पर्यावरण से अभिप्रेत है, हमारे निवास स्थान के चारों ओर का वह वातावरण अथवा वह परिस्थिति जहाँ हम जीवन यापन करते है। पर्यावरण के अन्दर व्यक्ति परिवार, समाज उसके निवास ग्राम, नगर प्रदेश महाद्वीप अर्थात् सम्पूर्ण सौर्य मण्डल में होने वाली समस्त परिस्थितियाँ और शक्तियाँ है तथा हमारे चारो ओर जो वस्तुएँ है वे सभी आती है जो मानवीय क्रियाकलापों को तथा अन्यान्य पदार्थों को प्रभावित करती है और उनके अस्तित्व की सीमा भी बनाती है।[1]

पृथ्वी के एक स्थान का वातावरण दूसरे स्थान से भिन्न होता है।[1] जीवों में तथा उनके जीवन–स्तर में पर्याप्त अन्तर दिखायी देता है सम्पूर्ण पृथ्वी का वातावरण मुख्यतः तीन भागों में विभाजित हुआ मिलता है। वातावरण के उस भाग को जिसमें चट्टानें, मिट्टी, रेत आदि है और जिनमें से पेड़ पौधों का पोषण होता है उस भाग को स्थल मण्डल कहते है। वातावरण के जिस हिस्से मे जल स्थित है उस भाग को जल–मण्डल कहते है। स्थल और जल मण्डल के ऊपर लगभग 300–350 कि0मी0 तक फैला हुआ गैसीय वातावरण है, जिसे वायु मण्डल कहते है।

वायु मण्डल में विभिन्न मात्राओं में आक्सीजन, नाइट्रोजन कार्बन डाइआक्साइड आदि गैसे सदैव विद्यमान रहती है। धरती का वह हिस्सा जिसमें जीवधारी निवास करते है– उसे जीव–मण्डल कहते है। पृथ्वी की सतह से 10–12 कि0मी0 ऊपर और 10–12 कि0मी0 धरती के नीचे तक का यह हिस्सा भी जीव मण्डल में गिना जाता है। यह सब प्रकृति का चमत्कार है। प्रकृति का सन्तुलन ही इसका विशेष गुण है। प्रकृति द्वारा संतुलित वातावरण में रहने से ही क्षेत्र विशेष में जीव–जन्तु मनुष्य एवं वनस्पतियाँ जीवित रहती हैं। जैसे ही क्षेत्र विशेष में प्राकृतिक असंतुलन होने लगता है उसका प्रभाव सम्पूर्ण वातावरण पर पड़ता है और वहां के जन जीवन और वनस्पतियों पर प्राकृतिक असंतुलन के कारण पर्याप्त खतरा उत्पन्न हो जाता है। प्रकृति अथवा पृथ्वी के असंतुलन का परिणाम सम्पूर्ण जीव जगत के ऊपर पड़ता है।[02]

पर्यावरण का बोध हम उन समस्त प्राकृतिक वस्तुओं से करते हैं जो हमारी पृथ्वी पर आदिकाल के वातावरण में स्वयं क्रिया करते हुए आज तक पहुँची है। यदि आज के युग में हम पर्यावरण का ज्ञान प्राप्त करें तो समस्त जीवित एवं निर्जीव वस्तुओं के बारे में ज्ञान प्राप्त करना होगा। पर्यावरण में इस पृथ्वी लोक के समस्त तत्व निहित है। इसमें से बहुत से तत्व जो हमारे सामने ही होते हैं तथा बहुत से तत्वों को हम देख भी नहीं पाते। पर्यावरण अध्ययन का अर्थ मानव सहित उन सभी जीव–जन्तु पौधों तथा अजीवित वस्तुओं जैसे वायुमण्डल, जल, मिट्टी, खनिज ऊर्जा आदि के बारे में अध्ययन से है जो आपस में एक दूसरे प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष रूप से सम्बन्धित है ये सभी तत्व आपस में एक दूसरे से क्रिया करते है क्योंकि ये सभी एक ही वातावरण में रहते है तथा ये एक दूसरे पर प्रभाव भी डालते है। एक की क्रियाओं का असर दूसरे पर पड़ता है।[03]

पर्यावरण सभी से सम्बद्ध है तथा सभी के लिए आवश्यक भी। कोई व्यक्ति चाहे किसी भी व्यवसाय से सम्बन्धित हो तथा किसी भी आयु का हो, पर्यावरण से समान रूप से प्रभावित होता है तथा अपने कार्यों के द्वारा

वह पर्यावरण को भी प्रभावित करता है। इस प्रकार पर्यावरण एक ऐसा विषय है जिसका स्वभाव वास्तव में सार्वभौमिक है। उदाहरण हेतु वायु मण्डल में कोई सीमा रेखा नहीं है और किसी एक स्थान पर उत्पन्न होने वाले प्रदूषक तत्व आसानी से अन्य स्थानों तक पहुँच सकते है। किसी स्थान पर शहरों अथवा कारखानों के गंदे पानी द्वारा दूषित की गई नदी के जल का प्रभाव इसके निचले भागों में उपस्थित जल जीवन को अवश्य ही प्रभावित करता हैं इसी प्रकार पहाड़ों पर स्थित वनों की क्षति केवल पहाड़ों को ही नहीं वरन् दूर–दूर तक स्थित मैदानी भागों को भी समान रूप से प्रभावित करता है। ऐसा इसलिए होता है क्योंकि पर्यावरण विभिन्न अवयवों तथा उनके कार्यकलापों से बना जटिल तंत्र है। यह स्वच्छ एवं सुरक्षित पेयजल, स्वास्थ्यपूर्ण जीवनोपयोगी अवस्थाएँ, साफ एवं स्वच्छ वायु, उपजाऊ भूमि, स्वास्थ्यवर्धक भोजन तथा विकास आदि विषयों से सम्बन्धित है।[04]

प्रकृति क्या है? संसार में दो प्रकार के तत्व है (1) चेतन (2) अचेतन। चेतन उन्हें कहते हैं, जिनमें चेतना है ज्ञान है, कर्म करने की क्षमता है और सोचने–समझने की शक्ति है। अचेतन वे तत्व हैं जिनमें चेतना और ज्ञान नहीं है। चेतन तत्वों में परमात्मा और जीवात्मा की गणना है। इन दोनों में चेतना है, ज्ञान है और मनन–चिन्तन की शक्ति है। अचेतन में प्रकृति की गणना है। इनमें चेतना और ज्ञान नहीं हैं यह पृथ्वी जल आदि पंचतत्वों का संघात या समूह है। पृथ्वी जल आदि में स्वयं चिन्तन–मनन स्वयं सोचने विचारने की क्षमता नहीं है। पंचतत्व– (पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और आकाश) भोग्य है, उपयोग में लाने योग्य पदार्थ है। सभी उपभोग्य वस्तुओं का कोई उपभोक्ता होता है। इस संसार में जीवात्मा उपभोक्ता है और प्रकृति तथा सभी प्राकृतिक वस्तुएं उपभोग्य है।

ऋग्वेद, अथर्ववेद और निरूक्त के एक मंत्र में इस विषय को बहुत सुन्दर ढंग से समझाते हुए कहा गया है कि एक वृक्ष पर दो पक्षी बैठे हुए है। ये दोनों पक्षी साथ रहते हैं और मित्र है। इनमें से एक स्वादिष्ट फलों को खाता है और दूसरा कुछ न खाता हुआ केवल साक्षी रूप में रहकर प्रकाशित होता हैं इस मंत्र में प्रकृति वृक्ष है। इस पर जीवात्मा और परमात्मा रूपी दो पक्षी बैठे है एक पक्षी जीवात्मा है यह प्रकृति रूपी वृक्ष के फलों का स्वाद लेता है कर्म करता है और फल भोगता है। दूसरा पक्षी परमात्मा है। यह न कर्म करता है और न फल भोगता है। यह केवल साक्षी है और ज्योतिर्मय रूप से प्रकाशित होता है।[05]

सृष्टि–रचना की प्रक्रिया तथा जीवन के विकास की प्रक्रिया आकस्मिक नहीं है तथा नियमों के अन्तर्गत है। यह भी आकस्मिक एवं निष्प्रयोजन नहीं है कि भारत पर्वत मालाओं, जीवन धारा रूप नदियों तथा नियमित ऋतुओं आदि के कारण ऐसे ऋषियों की जन्मभूमि बना, जिन्होंने जीवमात्र के कल्याण के लिए अमृतमयी वाणी से समस्त पृथ्वी को पवित्र कर दिया। कई हजार वर्ष पूर्व जब लगभग समस्त मानव जाति असभ्य कबीलों में पशु स्तर पर जीवन यापन कर रही थी, भारत की देवभूमि पर वैदिक ऋचाएं गुंजायमान हो रही थी।[06]

प्रकृति और पुरूष का सम्बन्धः–

मनुष्य का जीवन प्रकृति पर निर्भर करता है। वस्तुतः उसके अस्तित्व के लिए प्राकृतिक परिवेश अनिवार्य है। इसलिए प्रकृति को सृष्टि का मूल कारण माना जाता है। 'प्रकृति देवो भव' की धारणा सर्वत्र व्याप्त है। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति उसी से मानी जाती हैं वह आदि कारण है। प्रकृति ही ईश्वर है और ईश्वर ही प्रकृति है ऐसा एकेश्वरवादी स्वीकार करते है। आदिम कालीन धर्म में ईश्वर का स्वरूप प्राकृतिक शक्तियों के रूप में प्रकट होता है। माना जाता है कि 'सूर्य, वायु, पृथ्वी, नदी, वरूण, पर्वत, चन्द्रमा, ऋतु, वृक्ष, अग्नि आदि केवल प्रकृति को व्यवस्थित करने वाले मौलिक कारण मात्र नहीं है, बल्कि सृष्टि पालक भी है। ये प्राकृतिक शक्तियां है इनकी आराधना मानव जीवन को सुरक्षा प्रदान करती है। जिन प्राकृतिक शक्तियों (प्राकृतिक देवों) की पूजा आदिकाल से होती आ रही है उनमें मानवीय गुणों का आरोपण किया जाता रहा है। वे दिव्य शक्तियों देवताओं के रूप में विभिन्न नामों से अभिहित की जाने लगी और उनको एक–एक विभाग का अधिष्ठाता माना गया।[07]

सांख्य दर्शन में प्रकृति और पुरूष के सम्बन्ध में ''पंग्वन्धन्याय'' को अपनाया गया है इस न्याय का अभिप्राय है कि एक व्यक्ति पंगु (लंगड़ा) है, चल नहीं सकता है। दूसरा व्यक्ति अंधा है वह देख नहीं सकता है।

दोनों को अपना काम सिद्ध करना है अतः दोनों समझौता करते है। अंधा चल सकता है अतः वह नीचे रहता है और पंगु को अपने कन्धे पर बैठा लेता है। पंगु देख सकता है अतः वह मार्ग बताता हैं इस प्रकार एक दूसरे की सहायता से दोनों अपने गन्तव्य स्थान को पहुंच जाते है।

प्रस्तुत प्रसंग में पुरूष पंगु है। उसमें कर्तृत्व नहीं है गति नहीं है अतः वह चल नहीं सकता है। प्रकृति में चेतनता नहीं है देखने की शक्ति नहीं है, अतः वह मार्ग नहीं जानती है। दोनों के अपने–अपने लक्ष्य है। पुरूष को कैवल्य या मुक्ति चाहिए और प्रकृति को कोई मार्गदर्शक चाहिए। यदि प्रकृति और पुरूष दोनों एक दूसरे का सहयोग करते हैं तो भोग्यरूपी प्रकृति पुरूष को भोग के साथ ही अपवर्ग या मोक्ष तक पहुंचा देगी। इसी प्रकार पुरूष की सहायता से प्रकृति पुरूष (परमपुरूष, परमात्मा) का दर्शन कर लेती है। परिणाम यह होता है कि प्रकृति और पुरूष के संयोग से यह सृष्टि प्रारम्भ हो जाती है। महत् तत्व से लेकर पंचभूतों तक की सृष्टि होती है और यह योग्य जगत तैयार हो जाता है। प्रकृति भोग्य है और पुरूष इसका भोक्ता अर्थात् उपभोक्ता या उपभोग करने वाला है।[08]

मानव सृष्टि का श्रृंगार है। समस्त विश्व में पृथ्वी के अतिरिक्त मानव जीवन का विकास अन्यत्र सम्भव नहीं प्रतीत होता है। अतएव पृथ्वी नगण्य नहीं है, पृथ्वी मानो सृष्टि का मुकुट है। मानव के सदृश प्राणी कदाचित अन्यत्र कहीं न होगा। मानव जाति विलक्षण है तथा मानव जाति के पोषण का गौरवपूर्ण एकाधिकार केवल पृथ्वी का ही प्रतीत होता है।[09] मनुष्य जीवन में सामाजिक और प्राकृतिक दोनों ही घटक महत्वपूर्ण है। हमारे तकनीकी विकास के प्रभाव भी सामाजिक और प्राकृतिक दोनों घटकों पर पड़े है। जब भी हम विकास की बात करते है, यह केवल उन पूंजीपतियों तक ही सीमित नहीं है जो समाज का एक छोटा सा भाग होते हुए भी अधिकतम लाभ बटोर रहे है। विकास का अर्थ कुल राष्ट्रीय उत्पाद में विकसित देशों की बढ़ोत्तरी भी नहीं है। विकास का अर्थ है सभी को लाभ और वह भी केवल वर्तमान पीढ़ी के लिए नहीं अपितु भविष्य में आने वाली पीढ़ियों के लिए भी।[10]

मानव और प्रकृति का गहरा एवं अटूट सम्बन्ध है। वह प्रकृति की गोद में उत्पन्न होता है और प्रकृति के तत्वों के साहचर्य से ही जीवित रहता है। वस्तुतः मानव मात्र के विकास की सर्वांगीण प्रक्रिया प्रकृति की ही गोद में सम्पन्न होती है। हमारे चतुर्दिक व्याप्त प्राकृतिक तत्व पर्यावरण का सृजन करते है जिनसे सदैव ही मानव को अपने विकास हेतु उत्प्रेरक मूलभूत तत्व प्राप्त होते रहते है।[11] पर्यावरण भौतिक दशाओं का ऐसा योग है जिसमें जैविक समुदाय रहते है। ये भौतिक दशाये सदैव परिवर्तनशील रहती है तथा इनके मध्य रहने वाले सभी जैविक घटक अपने उद्भव, विकास तथा कार्यप्रणाली के अन्तर्गत इन दशाओं से प्रभावित रहते हैं तथा पर्यावरणीय दशाओं के साथ अनुकूलन करते समय इसे भी प्रभावित करते है। इस प्रकार पर्यावरण पृथ्वी पर जैविक एवं अजैविक घटकों का सामंजस्य स्थल भी है। जीव मण्डलीय दृष्टिकोण से पर्यावरण भौतिक एवं जैविक संकल्पना है जिसमें पृथ्वी के जैविक एवं अजैविक घटक सम्मिलित है। ये सभी दशायें पृथ्वी पर जल मण्डल, वायु मण्डल तथा स्थल मण्डल में विद्यमान है तथा इन तीनों परिमण्डलों का ऐसा क्षेत्र जहाँ जीवों का अस्तित्व सम्भव है, जीव मण्डल कहलाता है।[12]

प्रकृति का कर्तृत्वः– संसार में जो कुछ हो रहा है, वह सब प्रकृति का कार्य है। प्रकृति में सत्व, रजस और तमस ये तीनों गुण मूल रूप में विद्यमान है। ये गुण केवल मनुष्य ही नहीं अपितु जीव जगत को निरन्तर कुछ न कुछ करने के लिए बाध्य करते है। यही कारण है कि मनुष्य चाहे या न चाहे कुछ न कुछ भला या बुरा सदा करता रहता है। इसको ही गीता में कहा गया है कि ''कोई भी मनुष्य क्षण भर के लिए भी बिना कुछ काम किए नहीं रह सकता है। प्रकृति के सत्व आदिगुण उसे चैन से नहीं बैठने देते हैं। वे उसे कुछ न कुछ कर्म करने के लिए बाध्य करते है''।[13]

विज्ञान ने प्रकृति को मनुष्य के लिए अत्यन्त सुखद और सुन्दर बना दिया है। परन्तु सब कुछ पाकर भी मनुष्य सुखी नहीं है। वेद कहता है कि भौतिक विज्ञान अविद्या है विद्या नहीं। यह अविद्या मनुष्य को प्रकृति की ओर आकृष्ट करती है। प्राकृतिक सुख जीवन के सुखों का साधन अवश्य है परन्तु वह सुख दुःख का वास्तविक

स्वरूप नहीं है। जब मनुष्य के अन्तःकरण में इस बात की अनुभूति हो जाती है कि इस दृश्यमान प्रकृति से परे एक सच्चिदानन्द स्वरूप ब्रह्म है तथा वही इस प्रकृति का संचालक, उत्पत्तिकर्ता तथा विनाशक है तो वह उसे पाकर आनन्दमय हो जाता है। यह संसार चक्र से मुक्ति प्रदान करने वाला तथा मानव जीवन का यथार्थ ज्ञान विद्या के द्वारा ही सम्भव है।

यह प्राकृतिक विद्या जीवन में आवश्यक वस्तुओं की कमी नहीं होने देती और आत्मविद्या उनके मात्रातीत प्रयोग से बचाती है। यदि हम यह कह दें कि प्राकृतिक विद्या जीवन की गाड़ी में इन्जन है तो कोई अतिश्योक्ति नहीं होगी। मानव जीवन के उतार चढ़ाव भरे मार्ग में आत्मविद्या ब्रेक का काम करती है। इस मानव जीवन की गाड़ी प्राकृतिक विद्या के बिना चल नहीं सकती तो आत्मविद्या की ब्रेक के अभाव में उसके कहीं भी टूट कर कहीं भी गिर जाने का भय सदा ही बना रहता है।[14]

प्रकृति और पुरूषः– गीता के अध्याय 13 में क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का विवेचन हुआ है। इसमें क्षेत्र प्रकृति है और क्षेत्रज्ञ पुरूष या जीवात्मा है। क्षेत्र में प्रकृति के सारे तत्व मूल प्रकृति, महत् तत्व (बुद्धि) अहंकार 10 इन्द्रियां, मन, 5 तन्मात्रा और 5 महाभूत सभी लिए गए हैं। साथ ही इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, शरीर, चेतना, धैर्य आदि को भी लिया गया है। क्षेत्रज्ञ में पुरूष (परमात्मा और जीवात्मा) को लिया गया है। परमात्मा के विषय में कहा गया है कि वह चर–अचर में बाहर और भीतर सर्वत्र विद्यमान है, वह सूक्ष्म है वह सबका पालक है और ज्योतिर्मय है। वह सब जीवों के हृदय में विद्यमान है। पुरूष (परमात्मा, जीवात्मा) और प्रकृति ये दोनों अनादि है। प्रकृति महत् तत्व (बुद्धि) से लेकर अहंकार, 10 इन्द्रियां, मन, 6 तन्मात्रा, 5 महाभूत तक सब तत्वों को उत्पन्न करती है। दूसरी ओर पुरूष (जीवात्मा) सुख–दुःखों को भोगने के कारण है। जीवात्मा अपने नित्य स्वरूप में रहते हुए भी प्रकृति के सत्व रजस और तमस् गुणों का भोग करता है। ये गुण ही जीवात्मा को भोग भोगने के लिए विभिन्न योनियों में ले जाते है। जो तत्वज्ञानी पुरूष सारे कर्मों को प्रकृति के द्वारा किया जाता हुआ देखता है और आत्मा को निर्लेप, अकर्ता एवं साक्षी रूप में देखता है, उसको ही ब्रह्मज्ञ एवं तत्ववेत्ता समझना चाहिए। परमात्मा को अकर्ता और साक्षी के रूप में समझना ही तत्व ज्ञान है।[15]

सृष्टि के प्रारम्भ में प्रथम उत्पन्न हुए आदि पुरूष प्रजापति ने, सामान्य मनुष्य की भांति अनुभव किया कि अकेला मनुष्य रममाण नहीं होता। मनुष्य के लिए यह स्वाभाविक ही है कि उसे जीवन संगिनी की आवश्यकता और इच्छा होती है। उसने अपने देह को द्वेधा कर लिया। उसने अपने स्वरूप में रहते हुए ही उस शरीर से भिन्न, परस्पर आलिंगित हुए स्त्री–पुरूषों के परिमाण वाला एक देहान्तर (दूसरा ही देह) प्रकट कर दिया। वह अर्द्धनारीनटेश्वर अथवा अर्द्धनारीश्वर सदाशिव की भांति हो गया। तब उसने अपने इस देह के दोनों भाग पृथक–पृथक कर दिए एक पति तथा दूसरा पत्नी। **याज्ञवल्क्य** कहते हैं कि यह शरीर अर्द्धबृगल (द्विदल अन्न, चना, मटर इत्यादि की भांति दो भाग वाले) के समान है। यह जो स्त्री है, शरीर का ही पृथक किया हुआ अर्धभाग है। दोनों के एक होने पर पूर्णता होती है, यही विवाह का उद्देश्य होता है। विवाह से पुरूष और स्त्री का जीवन मर्यादित एवं संयमित तथा पूर्ण हो जाता है। विवाह का एक प्रमुख प्रयोजन प्रजनन भी होता है। इस प्रकार मनुष्य उत्पन्न हुए।[16]

अभिज्ञान शाकुन्तलम में कालिदास ने मानव एवं प्रकृति को एक ही प्रणय बन्धन में बांध दिया है। प्रकृति प्रिय शकुन्तला के विदाई के अवसर पर उसे सुसज्जित एवं अलंकृत करने के लिए वनस्पतियां आभूषण और वस्त्र देती हैं– क्षौमं केनचिद् .....''(4/7) महर्षि कण्व उनसे पुत्री शकुन्तला की विदाई का आदेश मांगते है– पातुं न प्रथमं .....'' (4/11)। पुत्रवत् विरहकातर मृगःशावक शकुन्तला को रोकने के लिए सत्याग्रह करता है– ''को नु खल्वेष...'' (चतुर्थ अंक)। शकुन्तला की बहिन सरीखी लतायें विरह–विदग्ध होकर आंसू बहाती हैं भाई–सरीखे मृग ग्रास का चबाना छोड़ देते है, मयूर नर्तन करना बन्द कर देते है। 'उद्गीर्ण दर्भकवला .....''(4/14)। मानव और प्रकृति के बीच इतना तादात्म्य इतना घनिष्ठ सम्बन्ध अन्यत्र कहीं नहीं दृष्टिगोचर होता। अपनी सन्तान के वियोग में माता–पिता भाई–बन्धु को विलखते तो सभी देखते है, पर किसी के असह्य वियोग में लताओं

को द्रवीभूत होते किसने देखा? और पशु, पक्षी, वनस्पति आदि को मित्र, पुत्र, अभिभावक आदि के रूप में किसने चुना।[17]

प्रकृति को माता का स्थान देने वाले प्रकृति के साथ सात्विक सम्बन्ध स्थापित करने वालों तथा 'आध्यात्मिक मानवों' कि संख्या कम है तथा उनका दबदबा भी न्यून है। उनकी सोच और उनकी जीवन–पद्धति पिछड़ी दकियानूस और विकास विरोधी मान ली गयी हैं सारी दुनिया उनके प्रति पूर्वाग्रह पालती है। विश्व की विडम्बना यह है कि ''आर्थिक मानव'' साधन अर्थात् मार्ग की शुचिता को महत्ता प्रदान नहीं करता, उस का लक्ष्य येन–केन–प्रकारेण भौतिक समृद्धि हासिल करना होता है। आज आर्थिक मानव का दुनिया पर वर्चस्व है, उनकी जीवन पद्धति का अनुकरण करना आमजनों का अभीष्ट है। किसी कीमत पर भौतिक समृद्धि पाना एवं भौतिक समृद्धि का संरक्षण आज का आदर्श है।[18]

सृष्टि में जो कुछ है वह संसार का पर्यावरण है वैसे सृष्टि के पांच आधार भूत तत्व अग्नि, जल, वायु, पृथ्वी और आकाश माने गये है। सृष्टि की रचना के पीछे इन्हीं ताकतों का विशेष योगदान माना गया है। सृष्टि की रचना का जहाँ प्रश्न उठाया जाता है वहाँ सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड भी एक है– क्योंकि ब्रह्माण्ड के भीतर ही सब कुछ समाया हुआ मिलता है। ब्रह्माण्ड अर्थात् सम्पूर्ण सृष्टि के अन्तर्गत प्रकृति भी है, पुरूष भी है, पशु भी है, कीट–पतंग भी है तो समस्त वनस्पतियां भी हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि जो कुछ भी इस सृष्टि में है– वह सृष्टि के अन्दर ही हैं यहां तक कि अनंतर संसार और आत्मा का आलोक भी इसी में समाया हुआ है। सभी तत्वों का समान अस्तित्व है। सभी एक–दूसरे के पूरक बनकर संसार अर्थात् सृष्टि अथवा ब्रह्माण्ड के पर्यावरण की महिमा के अंग बन जाते है अतः संसार अर्थात् सृष्टि में जो कुछ है– वह सृष्टि का पर्यावरण है। इसलिए उस पर्यावरण की सुरक्षा करना सबका धर्म है। जहाँ उस पर्यावरण के सन्तुलन में तनिक भी गतिरोध हुआ वहीं ''पर्यावरण'' का संकट उत्पन्न हो जाता है।[19]

ऋषियों का पर्यावरणीय चिन्तनः–

ऋषियों का पर्यावरण विषयक चिन्तन विशेषतया दृष्टव्य हैं पर्यावरण वह परिवृत्ति है जिससे मानव चारों ओर से घिरा हुआ है तथा जिसके कारण मानव जीवन एवं उसके सभी प्रकार के कार्यकलापों पर प्रभाव पड़ता है। पर्यावरण के इस अर्थ को देने वाले वेदों में परिधि, परिभू, परिवृत आदि शब्द बहुधा प्राप्त होते हैं। वेद के परिधि आदि शब्द सुरक्षा रूप प्रकार, पर कोटा अर्थों में प्रयुक्त हुए है। परम पिता परमात्मा ने जहाँ जीव को जीवन दिया वहीं स्वयं जीव को अपना परिधि बनाया तथा परमात्मा स्वयं जीव का परिधि बना एवं एक जीव अन्य जीव का परिधि बनाया और वहीं अपने जड़ पदार्थों को भी संरक्षण के लिए परिधि रूप से नियुक्त किया है। उन परिधियों में पृथिवी, अन्तरिक्ष, धौ, जल, अग्नि, आदि तथा देव दिशायें पर्वत, मेघ, वृक्ष, औषधि, वनस्पति पशु आदि पदार्थ समाहित हैं। इन सभी रक्षक परिधि रूप पदार्थों में परमात्मा का ही प्रमुख स्थान है जिससे एक दूसरे के द्वारा परस्पर सभी जीवों की सुरक्षा होती है तथा यह सृष्टिक्रम निरन्तर भविष्य की ओर अग्रसर होता रहता है।

ऋषियों ने शुद्ध एवं समुद्ध पर्यावरण को मानन जीवन एवं विकास के लिए अनिवार्य माना है। उन्होंने अपने आप को प्रकृति के छोटे तथा बड़े से बड़े प्रतीकों के सम्मुख स्वयं को सर्वात्मना उपासक के रूप में समर्पित किया हैं तत्पश्चात् प्रकृति प्रदत्त जिस पर्यावरण से मानव संपुष्ट हुआ वह कल्पनातीत हैं ऋषियों का चिन्तन है कि आपः वातः एवं औषधयः इन तीनों ने इस विश्व को आवृत कर रखा है।[20] प्रकृति के प्रत्येक कण में आन्तरिक शक्ति और वाह्य शक्ति होती हैं आन्तरिक शक्ति इसे गति एवं ऊर्जा देती है और वाह्य शक्ति इसकी रक्षा करती है। यथा– ''अन्तधिर्देवानां परिधिर्म नुष्याणाम्[21] इस परिधि का उद्देध्य जीवन की रक्षा से है। वन्य जीव वनों को बनाये रखते हैं वन जलों को आकर्षित कर पृथ्वी पर बरसाते हैं।[22] वेद में जलों को ''आपो ओषधीमती'' कहा गया है।[23] यजुर्वेद में जल को ''वानस्पत्यः'' कहा गया है।[24] इस प्रकार इस परिधि के बने रहने से अर्थात् परिस्थितिकी संतुलन व पर्यावरण की शुद्धता बनी रहने से सभी जीव जीवित रहते हैं–

सर्वो वै तत्र जीवति गौरश्वः पुरूषः पशुः।

यत्रेदं ब्रह्मा क्रियते परिधिर्जीवनायकम्।।

घने वन व वन्य जीव शुद्ध पर्यावरण के द्योतक होते हैं इसलिए वेद में कहा गया है कि जिस भूमि में वृक्ष एवं वनस्पतियाँ सदा खड़ी रहती है वह भूमि विश्व के समस्त जलों का भरण पोषण करने में समर्थ होती है–

यस्यां वृक्षा वानस्पत्याध्रुवास्तिष्ठन्ति विश्वहा।

पृथिवी विश्वधाय संधृता मच्छावदामसि।।[25]

संसार अर्थात् सृष्टि में जो कुछ है– वह सृष्टि का पर्यावरण है। इसलिए उस पर्यावरण की सुरक्षा करना सबका धर्म है। जहाँ उस पर्यावरण के संतुलन में तनिक भी गतिरोध हुआ वहीं पर्यावरण का संकट उत्पन्न हो जाता हैं।

ईशोपनिषद् के प्रथम मंत्र से पर्यावरण की स्थिति को समझा जा सकता है–

ईशा वास्यमिदं सर्व यत्किंच जगत्यां जगत्।

तेन त्यक्तेन भुंजीथा मा गृद्ध कस्य स्विद्धनम्।।

अर्थात् जगत में जो कुछ भी है उसमें ईश्वर का वास है– वह ईश्वर से आच्छादित है, त्याग के द्वारा अपना पोषण करो। किसी के धन का लोभ मत करो। इसी मंत्र में सब कुछ आ गया है। एक प्रकार से पर्यावरण संकट की व्यवस्था इसी इसी मंत्र में समायी हुई है।

कठिनाई तभी होती है जब प्रकृति में असंतुलन होने लगता है सृष्टि अथवा ब्रह्माण्ड में जब वायु जल मृदा आदि तत्वों में प्रदूषण होने लगता है तो सम्पूर्ण प्रकृति में असंतुलन होने लगता है। वहीं से प्राकृतिक स्थितियों में गड़बड़ी होने लगती है। भारत के ऋषि–मुनियों ने इस रहस्य को बहुत पहले समझ लिया था इसी लिए उन्होंने अग्नि, जल, वायु मृदा और आकाशीय तत्वों को शुद्ध रखने हेतु अपने जीवन में आवश्यक नियम बना लिये थे। ऋषि–मुनियों ने विराट सृष्टि की सुरक्षा करने हेतु जो नियम बनाये, वे सभी नियम प्रकृति को संतुलित करने के लिए थे। भारत के मनीषियों ने यहाँ तक धर्म के भी नियम बना डाले कि ''धर्म वही है जो प्रकृति के अनुकूल चलने का रास्ता दिखाये और अधर्म अथवा पाप वहीं है जो प्रकृति के प्रतिकूल चलने का मार्ग बताये।[26]

महर्षि उद्यालक ने विश्वजीत यज्ञ किया। उद्यालक का पुत्र नचिकेता अत्यन्त कुशाग्रबुद्धि था। जब उद्यालक गौएं दान दे रहे थे, नचिकेता ने सोचा बूढ़ी दुर्बल और दुग्ध न देने वाली गौओं को दान में देना पूण्यकार्य नहीं हो सकता। पुत्र भी पिता का धन होता है। उसका भी दान दिया जाना चाहिए। ऐसा विचार कर सात्विक भाव से पिता से कहा– आप मुझे किसको देंगे? तीन बार ऐसा कहने पर उद्यालक ने आवेश में आकर कहां मैं तुझे मृत्यु को देता हूँ। पिता से आज्ञा लेकर नचिकेता स्वयं ही मृत्युद्वार पर जाकर उनका साक्षात्कार करना चाहता हैं वह मृत्यु से ही उनके रहस्य को जानना चाहता हैं यमराज ने अनेक प्रलोभन दिए और कहा– तू पुत्र, प्रौत्र, अपार धन और सुदीर्घ जीवन मांग ले। तू ज्ञान के अतिरिक्त अन्य कुछ भी मांग ले।

दृढ़व्रती नचिकेता ने उत्तर दिया– भोग्य वस्तुएं क्षणभंगुर होती है और वे इन्द्रियों का शोषण करती है। आप उन्हें अपने पास ही रखें। वे अन्त में दुःख ही देती है। ऋषि कुमार नचिकेता ने इन्द्रियों के विषयों की तृप्ति के लिए भोग्य पदार्थों के संचय एवं संग्रह की मूढ़ता को जान लिया था। यमदेव ने कहा– हे नचिकेता, सुख–प्राप्ति के दो मार्ग हैं– श्रेय और प्रेय। दोनों ही अपनी ओर आकृष्ट करते हैं। अधिकांश लोग प्रेय की ओर आकृष्ट होते है। सांसारिक सुखभोगों में तत्काल एवं प्रत्यक्ष सुख प्राप्त होता है। भौतिक सुख भोग का मार्ग प्रिय होने के कारण प्रेय कहलाता है। सांसारिक सुखभोगों का आकर्षण मनुष्य को भटका देता है।

विवेकशील पुरूष प्रेय मार्ग की परिणाम दुःखता को देखकर श्रेय मार्ग को ग्रहण कर अपना लेते है। श्रेय मार्ग का अवलम्बन करने से आत्यान्तिक एवं नित्य–सुख की प्राप्ति होती है तथा अन्त में ग्लानि नहीं होती। विवेकशील पुरूष प्रेय और श्रेय के रहस्य को जानता है।

यह संसार रूपी गहन वन परमात्मा से परिपूर्ण है। वह सर्वत्र व्याप्त है। वह सनातन है। मानव के देह में वह हृदयरूपी गुह्य में स्थित रहता है और जीवन का स्रोत एवं आधार होता है। योगिजन उसका अनुभव हृदय में ही करते हैं। वह अपनी योगमाया से आवृत रहता है तथा उसका साक्षात्कार दुर्लभ है। यमराज ने कहॉ –सारे वेद जिस परमपद का प्रतिपादन करते हैं और सारे तप जिस पद को लक्ष्य मानते हैं जिसकी प्राप्ति के लिए ब्रह्मचर्य का व्रत लेते है वह पद संक्षेप में ऊँ है।

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत।

क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्ग पथस्तत्कवयो वदन्ति।।

यमाचार्य आत्मा (परमात्मा) के स्वरूप का वर्णन करते हुए तथा उसकी प्राप्ति का उपाय भी बतलाते हुए नचिकेता के माध्यम से मानव मात्र का उद्‌बोधन करते हैं– हे मनुष्यों तुम अमृत पुत्र हो। अमृतपद प्राप्त करना तुम्हारा जन्मसिद्ध अधिकार है। तुम अमृतमय हो तथा अपने अमृतास्वरूप को जानकर ही तुम कृतार्थ हो सकते हो। समस्त क्लेश मिथ्या है। अपने आनन्द स्वरूप का ज्ञान न होने के कारण तुम भ्रम और भय से ग्रस्त होकर दुःखी हो रहे हो। अज्ञान के कारण ही तुम स्वयं को दुर्बल और असहाय समझ रहे हो। तुम अज्ञान के अंधकार को ध्वस्त करने में समर्थ हो। अपने मूल दिव्य स्वरूप का विस्मरण करके तुम करूण क्रन्दन कर रहे हो। तुम्हारी व्याकुलता का कारण अपनी अनन्त शक्ति का विस्मरण ही है। तुम्हारा समस्त दुःख कल्पना प्रसूत है, भयथार्थ है और मिथ्या है। तुम्हारी अशान्ति और उद्वेग्नता तथा तुम्हारे समस्त भय और तुम्हारी दुश्चिन्ता तुम्हारा ही ओढ़ा हुआ आवरण है जिसे तुम क्षण भर में उतारकर फेंक सकते हो। भीतर से ज्ञान चक्षु खोलो, जागो और उठ खड़े हो, जागरण ही जीवन है। जब जागे तभी सवेरा।

उन महापुरूषों के पास श्रद्धापूर्वक जाओ जिन्होंने ज्ञान का प्रकाश प्राप्त किया है तथा परब्रम्हा परमात्मा को जाना है। वे तुम्हे मार्गदर्शन करा देगें और लक्ष्य के स्पष्ट होते ही तुम्हारा भटकना समाप्त हो जायेगा। निश्चय ही इस दुर्गम पथ पर चलना ऐसा ही कठिन है, जैसे तलवार की धार पर चलना। किन्तु परमात्मा की प्रार्थना करने से और महात्माओं के आशीर्वाद से दुर्गम पथ भी सुगम हो जाता है तथा लक्ष्य प्राप्त हो जाता है। उठो, जागो और चलते ही रहो।

जब भी व्यक्ति अथवा राष्ट्र के सम्मुख कोई संकट आये उसे इस मंत्र के उद्‌बोधन एवं उपदेश का अनुसरण करना चाहिए। जब सभी मनुष्य धर्म का अनुसरण करने लगे तो प्रकृति या पर्यावरण की कोई समस्या ही ना रहे।[27]

श्रेष्ठ महाकवि कालिदास ने अपनी रचना मेघदूत में मेघ को ही संदेशवाहक के रूप में प्रस्तुत किया, उन्होंने मनुष्य व प्रकृति में कोई अन्तर ही नही किया है जबकि प्रकृति को ही लेकर मेघदूत की अवतारणा की वह अतिशय मर्मस्पर्शी है। इसमें दो प्रकरण हैं पूर्व मेघ और उत्तर मेघ। कोई यक्ष कार्य में प्रमाद करने के कारण अपने प्रभु कुबेर के शाप से कैलाश पर्वत में अवस्थित अलकापुरी से एक साल के लिए निर्वासित हुआ। इस प्रकार अपने स्थान से निर्वासित होकर अपनी प्राणेश्वरी प्रियतमा से बिछुड़ने के शोक से कृश होकर वह यक्ष रामगिरि के निर्जन श्रृंग के आश्रमों में रहा करता था। वह आषाढ़ मास के प्रथम दिवस में नवीन मेघ को देखने से अपनी प्रियतमा की स्मृति से शोकाकुल होकर बहुत ही अधीर हो गया। मेघ को पुष्करा वर्तकों के वंश में उत्पन्न कहकर यक्ष ने अपनी प्रियतमा के पास सन्देश कहने के लिए प्रार्थना की। महाकवि ने प्रकृति के मनोरम और भव्य चित्रों से अपनी इस कृति को सजाया है। विचारपूर्वक निरीक्षक करने वालों को इसमें चरित्र का अनुकरणीय आदर्श थी मिल जाता है। इस प्रकार भारतीय साहित्य में प्रकृति को एक सम्मानजनक स्थान पहले से

ही दिया गया है।[28] पृथ्वी के संसाधनों के संरक्षण के लिए **गांधी जी** सादा जीवन में विश्वास रखते थे एक बार उन्होंने कहा भी था कि अगर ''भारत इंग्लैण्ड की तर्ज पर एक औद्योगिक राष्ट्र बन जाये तो केवल भारत की जनता ही दुनियॉ को उसके संसाधनों से वंचित कर देगी।''[29]

गीता में भी पर्यावरण सुरक्षा का संदेश :–

'गीता' भारतीय संस्कृति की अनमोल धरोहर है। भारत एवं विश्व मानव को 'गीता' ने सबसे अधिक प्रभावित किया है। विद्वानों का ऐसा मानना है कि उपनिषदों का सारतत्व गीता है। ''गीता'' में प्रकृति को सृष्टि का उपादान कारण बताया गया है। प्रकृति में ही ईश्वर है। बल्कि प्रकृति के प्रत्येक कण–कण में सृष्टि रचयिता समाये हुए है।

'गीता' में कृष्ण ने अपने अस्तित्व के विषय में स्वयं कहा है –

भूमिरापोऽनलो ..... धार्यते जगत ।।7 – 5।।

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार– इस प्रकार यह आठ प्रकार से विभाजित मेरी प्रकृति है। यह आठ प्रकार के भेदों वाली तो अपरा अर्थात् मेरी जड़ प्रकृति है और हे महाबाहु ! इससे दूसरी को जिससे यह सम्पूर्ण जगत धारण किया जाता है, मेरी जीवरूपा परा अर्थात् चेतन प्रकृति जान। (4–5) हे धनंजय मुझसे भिन्न दूसरा कोई भी परम कारण नहीं है। यह सम्पूर्ण जगत सूत्र में सूत्र के मणियों के सदृश्य मुझमें गुथा है। (7) हे अर्जुन! मै जल में रस हूँ, चन्द्रमा–सूर्य में प्रकाश हूँ। सम्पूर्ण वेदों में ओंकार हूँ। आवाज में शब्द और पुरूषों में पुरूषत्व हूँ। (8) मैं पृथ्वी में पवित्र ग्रन्थ और अग्नि में तेज हूँ तथा सम्पूर्ण भूतों में उनका जीवन हूँ और तपस्वियों में तप हूँ। (9) हे अर्जुन! तू सम्पूर्ण भूतों का सनातन बीज मुझको ही जान। मै बुद्धिमानों की बुद्धि और तेजस्वियों का तेज हूँ। (10) 'गीता' के उपर्युक्त वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रकृति परमेश्वर से भिन्न नहीं। जितने भी संसार में जैव एवं अजैव तत्व है उनमें परमात्मा का वास है। प्रकृति तभी तक चलेगी जब तक हम परमात्मा की सृष्टि के प्रत्येक अणु कण को समान रूप से पूजते रहेगें अर्थात सृष्टि में समन्वय रखेंगे, प्रकृति का संतुलन बनाये रखेगें और पर्यावरण की रक्षा करते रहेंगें।[30]

प्राचीन काल से ही पर्यावरण और मानव का घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। मानव ने जब प्रकृति माता की गोद में आंखें खोली तो उसे चारों ओर उज्जवल प्रकाश, निर्मल जल स्वच्छ वायु का वरदान मिला। प्रकृति के आंगन में खेलते हुए पुष्ट निरोग शरीर पाया, किन्तु धीरे–धीरे उसके मन में धरती पर शासन करने की लालसा जागी और उसने प्रकृति को माता के स्थान से हटाकर दासी के स्थान पर ढकेलना चाहा इसको नाम दिया ''वैज्ञानिक प्रगति''। परन्तु पर्यावरण की कीमत पर होने वाली प्रगति देश की अपूर्णीय क्षति कर सकती है। हमें विकास के मार्ग पर बढ़ते हुए इस बारे में विशेष सावधानी बरतनी चाहिए कि हमारे राष्ट्रीय संसाधन इस क्रम में नष्ट नहीं होने पाये। हमें विकास की तरफ बढ़ते हुए अच्छी परम्पराओं को बनाये रखना होगा। (31) पर्यावरण के ही कारण पृथ्वी को जीवित जगत होने का गौरव प्राप्त है। समस्त सौर मण्डल में केवल पृथ्वी पर ही पौधों व प्राणियों के विकास के लिये अनुकूल पर्यावरण विद्यमान है। मानव सहित सभी जीवधारी (पेड़–पौधे और जीव जन्तु) इसी पर्यावरण की देन है। मानव सृष्टि की सर्वोत्तम कृति है। पर्यावरण भौतिक तत्वों, शक्तियों तथा प्रक्रमों का ऐसा समुच्चय है जो पृथ्वी को जीवन युक्त बनाये हुये है।[32]

निष्कर्ष

महात्मा गांधी जी को संसाधनों के संरक्षण की आवश्यकता की गहरी अन्तः दृष्टि थी उनका सोच था कि – ''हमारी पृथ्वी मनुष्यों की आवश्यकताएं पूरी कर सकती है, उनके लालच को नहीं।'' यह बात उन्होंने तब कही थी जब लोगों ने पूरी तरह समझा भी नहीं था कि दुनियॉ संसाधनों से किस कदर खाली हो जायेगी। उस समय अधिकांश लोगों को लगता था कि प्राकृतिक संसाधन असीमित है।

आदिकाल में स्वयं मानव भी इस पर्यावरण का एक अंग था और वह भी इसी पर्यावरण में अन्य जन्तुओं की भॉति ही जीवन–यापन करता था परन्तु सबसे अधिक बुद्धिमान होने के कारण इसने धीरे–धीरे अपने बुद्धिबल तथा अपनी खोजों के आधार पर विकास करना प्रारम्भ किया और लाखों वर्षों बाद आज विकसित मानव का रूप ग्रहण कर पाया है। मानव ने इस विकसित रूप के कारण अपने को पर्यावरण से अलग–थलग कर लिया है अब एक ओर मानव जाति तथा दूसरी ओर सम्पूर्ण पर्यावरण है। इसी मानव जाति और वातावरण के सम्मिलित रूप को पर्यावरण कहते है।

मनुष्य ने अपने सुख के लिए पृथ्वी के उपयोगी भागों का दोहन किया जैसे–जैसे मनुष्य प्रगति करता रहा, वैसे–वैसे उसने स्थान–विशेष के वातावरण को अपने अनुकूल बनाने की चेष्टा की और प्रगति पथ पर बढ़ने का प्रयास किया। ''वातावरण'' का तात्पर्य उस विशेष चारों तरफ के आवरण से है जिसमें उस स्थान विशेष या क्षेत्र विशेष की वायु अर्थात वात'' रहती है। इस प्रकार के वातावरण को अपने वश में करते हुए मनुष्य जब निरन्तर प्रगति करता रहा तो उसने धरती से ऊपर और धरती से नीचे तक के क्षेत्र को अपनी प्रगति का माध्यम बना डाला। इसीलिए बीसवीं शताब्दी में रहने वाले लोग बड़े गर्व से कहते है कि –''स्वर्ग के जिन सुखों की हमारे पूर्वजों ने कल्पना तक नहीं की थी। उनको हम धरती पर उतार लाने में सफल हुए है।'' परन्तु सच्चाई यह है कि जिस तेजी से हमने भौतिक उन्नति की है दूसरी ओर ध्यान से देखें तो हमने अपने जिन्दा रहने के आवश्यक तत्व–शुद्ध हवा, स्वच्छ जल, उपजाऊ मिट्टी आदि के सर्वोत्तम गुण खो दिये है। आज की भोगवादी सभ्यता ने मनुष्य को प्रकृति का दुश्मन बना दिया है। अपने क्षणिक सुख के साधन जुटाने के लिए मनुष्य ने प्रकृति के साथ क्रूर अत्याचार किया है। अन्न उत्पन्न करने के लिए वनों का सफाया किया। अपनी विलासिता की वस्तुओं को प्राप्त करने के लिए प्राकृतिक वनों को काट डाला प्राकृतिक वन और वनस्पतियाँ जो जीवन की प्राणदायिनी गैसों को देती थी वे नष्ट हो गयीं। प्राकृतिक वन आदि के न रहने से बाढ़, सूखा, भूस्खलन और रेगिस्तानों के विस्तार की गति आर्थिक प्रगति से भी तेज होने लगी। सूर्य से मनुष्य मात्र की रक्षा करने वाली ''ओजोन'' की रक्षक छतरी में भी छेद होने लगी है, जिसके कारण मनुष्य मात्र का जीवन खतरे में पड़ गया गया है।

विनाश की कीमत पर विकास का दर्शन और भौतिकवादी जीवन पद्धति इन दोनों अवधारणाओं में पैठी खोट ही प्रदूषण एवं परिस्थितिकी के क्षरण के लिये उत्तरदायी है। पर्यावरण बोध स्पष्ट दृष्टि के बिना सम्भव नहीं पर्यावरण के प्रति मित्र भाव सृष्टि के तंतुओं को समझे बिना पल्लवित पुष्पित करना सरल नहीं है। पर्यावरण बोध के पश्चात् ही मित्रभाव पनप सकता है।

वर्तमान समय में पर्यावरण पर दबाव बढ़ता जा रहा है और मानव प्रकृति से दूर होता जा रहा है। बीसवीं शताब्दी में सभ्य मानव ने प्रकृति के साथ अत्यन्त छेड़–छाड़ की है। औद्योगिक, वैज्ञानिक एवं तकनीकी प्रगति के कारण प्राकृतिक तंत्र में अनेक विसंगतियाँ उत्पन्न हो गयी है और मानव जाति के सम्मुख प्रकृति और पर्यावरण को लेकर अस्तित्वहीनता की स्थिति उत्पन्न होती जा रही है। विकास की अंधी दौड़ में प्राकृतिक संसाधनों के अतिदोहन के कारण पर्यावरण की जीवनप्रदायिनी क्षमता में भारी कमी आई है जिसके कारण गुणवत्ता में अपरिवर्तनीय गिरावट आई है। मानव की अंधाधुंध एवं निरन्तर मांग ने भूमि, जल, वन एवं सम्पूर्ण पर्यावरणीय गुणवत्ता को प्रभावित किया है।

यह स्पष्ट है कि पर्यावरण से सम्बन्धित समस्याएँ किसी एक व्यक्ति वर्ग अथवा समाज की नहीं है, सम्पूर्ण विश्व इससे प्रभावित है। इस स्थिति का सामना करने और समाधान करने के लिए प्रत्येक व्यक्ति को जागरूक करना होगा और अपनी धरती, अपनी प्रकृति, अपने पर्यावरण को संरक्षित एवं संवद्धित करने हेतु अपना योगदान देना होगा।

पृथ्वी के ऊपर होने वाले परिवर्तनों ने अब विश्व मानव को चेतावनी दे दी है कि यदि समय रहते पृथ्वी के सन्तुलन को नहीं संभाला गया तो एक दिन ऐसा भी आयेगा जब यह पृथ्वी रहने योग्य नहीं रहेगी और

जीवजन्तु वनस्पतियों से लेकर मनुष्य समाज हमेशा हमेशा के लिए समाप्त हो जायेगा। क्योंकि यह खतरा अब ''वातावरण'' का न रहकर ''पर्यावरण'' का खतरा हो गया है।

'वातावरण' तो किसी स्थान व क्षेत्र के चारों ओर के आवरण को कहते है परन्तु यह खतरा तो किसी स्थान व क्षेत्र के सम्पूर्ण अस्तित्व का खतरा बन गया है। इस प्रकार का खतरा सम्पूर्ण विश्व में प्राकृतिक असन्तुलन के कारण भयंकर रूप ले चुका है। एक अच्छे पर्यावरण के लिए कुछ करना होगा हम सबको मिलकर क्योंकि एक लम्बी यात्रा का प्रारम्भ भी कदम से होता है अतः हम विश्व पर्यावरण संरक्षण की दिशा में एक कदम उठाने का कार्य अपने आस–पास के पर्यावरण का संरक्षण करके कर सकते है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. गौतम सूर्य नारायण, वेद, यज्ञ और पर्यावरण एजुकेशनल बुक सर्विस उत्तम नगर नई दिल्ली संस्करण 2014, पृ0सं0–95
2. नौटियाल शिवानन्द, पर्यावरण समस्या और समाधान, सामयिक प्रकाशन दरियागंज नई दिल्ली, संस्करण 2012 पृ0सं0 14–15
3. विश्वकर्मा कनकलता, मानव जीवन और पर्यावरण, यूनीवर्सल वाइस नई दिल्ली, प्रथम प्रकाशन 2007, पृ0सं0 13–14 ।
4. कौशिक अनुभा, कौशिक सी0पी0, न्यू एज इंटरनेशनल (प्रा0) लि0, पब्लिशर्स, नई दिल्ली, संस्तरण–2014 पृ0सं0 (02)।
5. पद्मश्री द्विवेदी कपिलदेव, वैदिक दर्शन, विश्व भारती अनुसंधान परिषद ज्ञानपुर भदोही। प्रथम संस्करण 2004, पृ0सं0 103 ।
6. शिवानन्द, उपनिषद – दिग्दर्शन, सर्व सेवा संघ, प्रकाशन राजघाट, वाराणसी, प्रथम संस्करण 2003, पृ0सं0 16।
7. मिश्र हृदय नारायण, धर्म दर्शन परिचय, शेखर प्रकाशन, इलाहाबाद सत्रहवाँ संस्करण 2016, पृ0सं0 390 ।
8. द्विवेदी कपिलदेव उपरोक्त पृ0 108 ।
9. शिवानन्द उपनिषद ..... उपरोक्त पृ0सं0 16 ।
10. कौशिक अनुभा, कौशिक सी0पी0 पर्यावरण अध्ययन, न्यू एज इंटरनेशनल (प्रा0) लिमिटेड पब्लिशर्स नई दिल्ली संस्तरण 2014, पृ0सं0–157
11. अस्थाना मधु, पर्यावरण : एक संक्षिप्त अध्ययन, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, 2008, पृ0सं0 01 ।
12. ममता सिद्धार्थ, यादव मंजु, सचित्र पर्यावरण विश्व कोश, ज्योति प्रकाशन, जयपुर, प्रथम संस्करण 2006, पृ0सं0 (02) ।
13. कपिलदेव उपरोक्त पृ0सं0 113 ।
14. गौतम सूर्य नारायण उपरोक्त पृ0सं0 68 ।
15. द्विवेदी कपिलदेव उपरोक्त पृ0सं0 114 ।
16. शिवानन्द, उपनिषद– दिग्दर्शन उपरोक्त – पृ0सं0– 312 ।
17. मालवीय सुधाकर, अभिज्ञानशाकुन्तलम्, चौखम्भा कृष्णदास अकादमी, वाराणसी संस्करण 2011, पृ0सं0 80–81 ।
18. सिंह श्रीनिवास, पर्यावरण मित्र विज्ञानलोक विश्वासनगर, दिल्ली संस्करण 2007, पृ0सं0– 246–247 ।
19. नौटियाल शिवानन्द, पर्यावरण समस्या और समाधान सामयिक प्रकाशन नई दिल्ली, संस्करण 2012, पृ0सं0 319।
20. अथर्ववेद संहिता अध्याय 18 सूक्त 1 मंत्र 77 ।
21. अथर्ववेद संहिता अध्याय 12 सूक्त 2 मंत्र 44 ।
22. त्रैत्तिरीय ब्राम्हण 3.22.5.2.2.5.10 ।
23. अथर्ववेद संहिता अध्याय 19 सूक्त 17 मंत्र 6 ।

24. शुक्ल यजुर्वेद संहिता अध्याय 1 मंत्र 14 ।
25. गौतम सूर्य नारायण, उपरोक्त पृ0सं0– 99–100 ।
26. नौटियाल शिवानन्द पर्यावरण समस्या और समाधान सामयिक प्रकाशन दरियागंज नई दिल्ली, संस्करण 2012 पृ0सं0–319–320 ।
27. शिवानन्द उपनिषद्– दिग्दर्शन, सर्व सेवा संघ प्रकाशन राजघाट, वाराणसी संस्करण 2003, पृ0सं0 80–97 (कठोपनिषद्)
28. रेग्मी : शेव राजशर्मा, मेघद्तम्, चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी पुर्नमुद्रित संस्करण 2010, पृ0सं0 21–23 ।
29. इराक भरूचा, विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के लिए निर्मित, पर्यावरण अध्ययन ओरियंट लॉग्मैन प्राइवेट लिमिटेड, प्रथम प्रकाशित 2006 पृ0सं0– 178 ।
30. श्रीमद् भगवत् गीता, बोलनेवाली श्री भदभगवद् गीता, भक्ति सागर, पृ0सं0– 64–65 (अध्याय–7)।
31. सिद्दीकी एस0ए0, पर्यावरण अध्ययन, अनुसंधान प्रकाशन 'एस' जूही गौशाला कानपुर, प्रथम संस्करण 2007, पृ0सं0 124–125 ।
32. गौतम अलका, संसाधन एवं पर्यावरण, शारदा पुस्तक भवन, इलाहाबाद तृतीय संशोधित संस्करण 2013, पृ0सं0– 256 ।

●●●

भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन और भारतीय रियासतें : एक समीक्षात्मक विश्लेषण

डॉ. जय प्रकाश
एसोसिएट प्रोफेसर, इतिहास विभाग
वीर बहादुर सिंह राजकीय महाविद्यालय
कम्पियरगंज, गोरखपुर

अंग्रेजों ने जिस तरह भारत का अतिक्रमण किया और औपनिवेशिक सत्ता स्थापित करने के लिए जो नीतियाँ अपनाई, उनके चलते भारतीय उपमहाद्वीप के 25वें हिस्से पर भारतीय राजाओं–महाराजाओं का ही शासन कायम रहा। इन रियासतों की संख्या 565 थी जो छोटी–बड़ी हर तरह की थीं, जैसे हैदराबाद, मैसूर और कश्मीर जैसी रियासतों का आकार तो कई यूरोपीय देशों के बराबर था, और कई रियासतें ऐसी थीं जिनकी आबादी मात्र कुछ हजार ही थी। भारतीय रियासतों के अस्तित्व में आने के मुख्य कारण वही थे जिनके कारण ईस्ट इंडिया कंपनी शक्तिशाली बनी। बहुत–सी भारतीय रियासतें, स्वायत्तता प्राप्त अथवा अर्धस्वायत्तता प्राप्त इकाइयों के रूप में उत्तर मुगलकाल में बनीं।

1857 के पहले अंग्रेज भारतीय रियासतों को हड़पने का कोई अवसर नहीं चूकते थे। लेकिन 1857 के विद्रोह के बाद उन्होंने भारतीय रियासतों के प्रति अपनी नीति को बदल दिया। विद्रोह के दौरान अनेक देसी रियासतें न केवल अंग्रेजों की वफादार बनी रहीं, बल्कि विद्रोह को कुचलने में उनकी सक्रिय रूप से सहायता भी की थी। वायसराय केनिंग ने कहा भी था कि इन राजाओं ने तूफान में 'तरंगरोधकों' का काम किया था। वास्तव में विद्रोह के अनुभव से ब्रिटिश अधिकारियों को यह विश्वास हो गया था कि जनता के विरोध या विद्रोह की स्थिति में ये रियासतें उनका कारगर सहयोगी हो सकती हैं। इसलिए साम्राज्य के आधार के रूप में उनको बनाए रखना तब से ब्रिटिश नीति का एक सिद्धांत रहा है। यद्यपि ब्रिटिश सरकार ने रियासतों के विलय की नीति को त्याग दिया था, लेकिन इस विलय के न होने के अधिकार के लिए रियासतों को सर्वश्रेष्ठ शक्ति और असंदिग्ध शासक के रूप में अंग्रेजी सत्ता की 'सर्वोच्चता' को स्वीकार करना पड़ा था। अंग्रेजी हुकूमत ने इन रियासतों के राजाओं को किसी भी अंदरूनी या बाहरी खतरे में उनका साथ देने की तथा उनकी सुरक्षा की गारंटी दी थी।

अधिकतर देसी रियासतों में निरंकुश स्वेच्छाचारी शासन का बोलबाला था। राजा–महाराजा अपनी विलासिता के लिए राजकोष का मनमाना इस्तेमाल करते थे और अनेक रियासतों में वैभव और विलासिता के नाम पर पैसा पानी की तरह बहाया जा रहा था। किसान दमन के शिकार थे, ब्रिटिश शासन की तुलना में मालगुजारी और कर बहुत अधिक और असहनीय थे। अनेक रियासतों में भू–दास प्रथा, गुलामी और बेगार की प्रथा प्रचलित थी। शिक्षा का कोई खास प्रसार न था; स्वास्थ्य और अन्य सामाजिक सेवाएँ एकदम पिछड़ेपन की हालत में थीं, और प्रेस की स्वतंत्रता, कानून–सम्मत शासन और दूसरे नागरिक अधिकारों का कोई मान नहीं था। इस तरह अधिकांश रियासतें आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक और शैक्षणिक रूप से पिछड़ी हुई थीं। इस गरीबी और पिछड़ेपन के लिए केवल रियासतें ही जिम्मेदार नहीं थीं। इन रियासतों की इस दुर्दशा के लिए मूलतः अंग्रेजी हुकूमत जिम्मेदार थी। पहले के पूरे इतिहास में आंतरिक विद्रोह या बाहरी आक्रमण की चुनौतियाँ इन भ्रष्ट और पतित देसी राजा–महाराजाओं की मनमानी पर कुछ हद तक नियंत्रण रखती थीं। परंतु ब्रिटिश शासन ने राजाओं को इन दोनों खतरों से सुरक्षित बना दिया और अब वे खुलकर अपने शासन का दुरूपयोग करने लगे।[1]

ब्रिटिश भारत की राजनीति में कभी–कभी रियासतों के राजा भी रूचि लेते थे, जैसे अलवर और भरतपुर के राजा बीसवीं सदी के आरंभिक वर्षों में हिंदू राष्ट्रवाद के प्रचंड समर्थक थे। अलवर का राजा जयसिंह इतना बड़ा देशभक्त था कि

वह यूरोप वालों से दस्ताने पहने बिना हाथ तक नहीं मिलाता था। भरतपुर में वित्तीय अनियमितताओं के कथित आरोपों के कारण जब राजा को हटा दिया गया था, तो आर्यसमाज, कांग्रेस और जाट महासभा के गठजोड़ ने इस क्षेत्र को पूरे राजस्थान में राष्ट्रवाद का एक प्रमुख केंद्र बना दिया था।[2] कुछ विवेकशील शासक भी थे जो कुछ प्रशासनिक सुधार लागू करने और प्रशासन में जनता की भागीदारी का खयाल रखते थे। लेकिन अधिकांश राजे–महराजे अंग्रेजी राज के वफादार थे और ब्रिटिश सरकार राष्ट्रीय एकता के विकास में बाधा डालने तथा उदीयमान राष्ट्रीय आंदोलन का मुकाबला करने के लिए इन राजाओं का इस्तेमाल करती थी।

बीसवीं सदी के पहले दशक में जब गरमपंथ और हिंसा का प्रभाव बढ़ा और फिर दूसरे दशक में जब प्रथम विश्वयुद्ध आरंभ हुआ तो साम्राज्य के लिए राजाओं, महाराजाओं ने अपनी उपयोगिता साबित करते हुए युद्धकोष में खुलकर दान दिए, मूल्यवान सैनिक सेवाएँ प्रदान की और अपनी रियासतों में सैनिकों की भर्ती को प्रोत्साहित किया। इसके बाद जब असहयोग आंदोलन ने इस उपमहाद्वीप को झकझोरा, तो इन राजाओं ने अपने क्षेत्रों में इस आंदोलन की लहर को रोकने के लिए सरकार की मूल्यवान सेवा की। यही नहीं, जब प्रिंस ऑफ वेल्स के दौरे का कांग्रेस ने बहिष्कार किया, तो राजाओं के जोश और शानदार स्वागत के कारण ही वह दौरा थोड़ा–बहुत सम्मानित बना।

प्रथम विश्वयुद्ध के उपरांत भारतीय रियासतों ने अपनी सेवाओं के बदले अधिक संवैधानिक स्वतंत्रता, ब्रिटिश भारत में उठती राजनीति की लहरों से सुरक्षा की अधिक गारंटी और साम्राज्य की सलाह–मशविरा की प्रक्रिया में अधिक भागीदारी की माँग की।[3] इसलिए फरवरी 1921 में एक 120 सदस्यों वाले 'नरेंद्र मंडल' (चैंबर ऑफ प्रिंसेज) की व्यवस्था की गई ताकि राजे–महाराजे एक साथ मिल–बैठ सकें और ब्रिटिश मार्गदर्शन में अपने साझे हित के विषयों पर विचार–विमर्श कर सकें। इससे भारतीय रियासतें अंग्रेजी साम्राज्य के अनुग्रहीत पुत्र बन गईं और वास्तव में उन्हें सामूहिक रूप से साम्राज्य का एक स्वतंत्र अंग स्वीकार कर लिया गया। यद्यपि इस चैंबर ने राजाओं के भौतिक और राजनीतिक, दोनों तरह के अलगाव को तोड़ा,[4] किंतु राजनीतिक परंपराओं और सर्वोच्चता की भावना के लगातार बढ़ते प्रभाव के कारण नरेंद्र लोग अब चिंतित भी होने लगे थे।

देशी रियासतें ब्रिटिश भारत से कभी पूरी तरह कटी हुई नहीं रहीं, न ही उनकी सीमाएँ कभी अलंघ्य रहीं, क्योंकि उनमें पास के प्रांतों से राष्ट्रवादी राजनीति और सांप्रदायिक तनाव, दोनों का लगातार प्रवेश होता रहता था। ब्रिटिश इंडिया में भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के प्रसार से देसी रियासतों में भी लोकतंत्र, नागरिक अधिकारों तथा उत्तरदायी शासन–प्रणाली के प्रति राजनीतिक चेतना का प्रसार होने लगा था। बीसवीं सदी के पहले और दूसरे दशक के बीच जो राष्ट्रवादी क्रांतिकारी ब्रिटिश इंडिया से भागकर इन रियासतों में आ गए थे, उन्होंने भी जनता के बीच राजनीतिक चेतना जगाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। 1920 में छिड़े असहयोग आंदोलन ने इन रियासतों को सबसे अधिक प्रभावित किया और गांधीजी से प्रेरणा प्राप्त की, जैसे 1921 के दौरान जागीरदारों के दमन और भूमिकरों के प्रतिरोध में मेवाड़ का बिजौलिया आंदोलन या मोतीलाल के नेतृत्व में सिरोही में भीलों का आंदोलन। मोतीलाल को तो स्थानीय गांधी भी कहा जाने लगा था, जबकि स्वयं गांधीजी ने इस आंदोलन से अपना संबंध तोड़ लिया था।[5]

बीसवीं सदी के तीसरे दशक के आते–आते प्रायः सभी रियासतों में ''प्रजामंडलों'' के रूप में जन–आंदोलन उभरने लगे थे और वहाँ की जनता संवैधानिक परिवर्तनों, जनतांत्रिक अधिकारों और लोकप्रिय सरकारों की माँग को लेकर आंदोलन करने लगी थी। विभिन्न रियासतों, जैसे मैसूर, हैदराबाद उड़ीसा, त्रावनकोर, इंदौर, गयानगर तथा काठियावाड़ और दकन की रियासतों में राजनीतिक गतिविधियों के तालमेल के लिए 'स्टेट पीपुल्स कॉन्फरेंस' का गठन हुआ। बाद में राष्ट्रवादी आंदोलन के समन्वय के लिए ये मंडल 'आल इंडिया स्टेट्स पीपुल्स कॉन्फरेंस' (ऑल इंडिया स्टेट्स पीपुल्स कांग्रेस) नाम के एक राष्ट्रीय संगठन से संबद्ध हो गए, जिसकी स्थापना 1927 में हुई और जिसका मुख्यालय बंबई में था। इस संगठन ने लोकतांत्रिक अधिकारों और संवैधानिक परिवर्तनों की माँग उठाई, जिनका उत्तर अधिकांश रियासतों ने तीखी प्रतिशोध भावना और भारी दमन से दिया। लेकिन कुछ रियासतें अपवाद भी थीं, जैसे बडौदा, मैसूर, त्रावनकोर और कोचीन जिन्होंने, सीमित दायरों में ही सही, कुछ संवैधानिक परिवर्तन करने शुरू कर दिए थे।

रियासतों के प्रति कांग्रेस की नीति

यद्यपि मैसूर या त्रावनकोर जैसी कुछ रियासतों में कांग्रेस की राजनीति काफी पैठ बना चुकी थी, लेकिन आरंभ में 1920 के दशक तक कांग्रेस रियासतों के मामलों में हस्तक्षेप करने से कतराती रही और प्रजा पर राजाओं के परंपरागत अधिकारों को मान्यता देती रही। 1920 में नागपुर अधिवेशन में कांग्रेस ने पहली बार भारतीय रियासतों के प्रति अपनी नीति की घोषणा की जब अधिवेशन में एक प्रस्ताव पारित कर रियासतों के राजाओं से तुरंत उत्तरदायी सरकार के गठन की माँग की गई और रियासतों की जनता को कांग्रेस का सदस्य बनने की अनुमति दे दी गई। इसके साथ ही कांग्रेस ने यह हिदायत भी दी कि ऐसे लोग रियासतों में कांग्रेस के नाम पर कोई राजनीतिक गतिविधि शुरू नहीं करेंगे। यदि वे चाहें तो व्यक्तिगत रूप से या स्थानीय संगठनों के सदस्य के रूप में ऐसा कर सकते थे।

कुछ इतिहासकारों ने कांग्रेस की इस अहस्तक्षेपवादी नीति का समर्थन करते हुए इसको राष्ट्रीय आंदोलन के लिए फायदेमंद बताया है। तर्क दिया है कि ब्रिटिश इंडिया और देसी रियासतों के राजनीतिक हालात काफी भिन्न थे, एक रियासत की स्थिति दूसरी रियासत की स्थिति से भी भिन्न थी; नागरिक स्वतंत्रता नाम की कोई चीज नहीं थी; संगठन बनाने का अधिकार नहीं था; जनता भयंकर गरीबी और पिछड़ेपन की शिकार थी। सबसे बड़ी बात यह कि कानूनी तौर पर ये रियासतें स्वाधीन रियासतें थीं।.....इसका एक उद्देश्य यह भी था कि रियासत की जनता खुद संघर्ष के लिए संगठित हो।''[6] सही तो यह है कि कांग्रेस दिखावे के रूप में राजाओं की प्रभुसत्ता–संबंधी परंपरागत अधिकारों का सम्मान करते हुए चतुराई के साथ रियासतों के मामले में अहस्तक्षेप की आधिकारिक नीति अपना रही थी।

कांग्रेस ने 1928 में एक प्रस्ताव के माध्यम से राजाओं से प्रातिनिधिक संस्थाओं पर आधारित 'उत्तरदायी शासन लागू करने का'' आग्रह किया तथा ''पूर्ण उत्तरदायी शासन' की प्राप्ति के लिए प्रयासरत भारतीय रियासतों की जनता के 'वैध और शांतिपूर्ण संघर्ष' के प्रति 'सहानुभूति' और 'समर्थन' व्यक्त किया। जवाहरलाल नेहरू ने 1929 में लाहौर अधिवेशन में भी घोषणा की कि ''देशी रियासतें शेष भारत से अलग नहीं रह सकतीं।....इन रियासतों की तकदीर का फैसला सिर्फ वहाँ की जनता ही कर सकती है।'' बाद के वर्षों में भी कांग्रेस ने रियासतों के राजाओं से अपनी रियासतों में जनता के मौलिक अधिकारों के बहाली की माँग की। लेकिन ऐसी मौखिक सहानुभूति का रियासतों की जनता के आंदोलनों और कांग्रेस की गुप्त शाखाओं के लिए कोई विशेष अर्थ नहीं था, क्योंकि जब सविनय अवज्ञा आंदोलन से प्रेरित होकर अनेक रियासतों, विशेषकर राजकोट, जयपुर, कश्मीर, हैदराबाद और त्रावनकोर में जन–संघर्ष चलाए गए, तो भावनगर, जूनागढ़ या काठियावाड़ जैसे थोड़े से अपवादों को छोड़कर अंग्रेजी राज के समर्थक राजे–महाराजे अपने–अपने इलाकों में कांग्रेसी गतिविधियों के दमन के लिए पहले जितने ही भरोसेमंद साबित हुए।[7] इतना ही नहीं, अनेक राजाओं ने सांप्रदायिकता का भी सहारा लिया, जैसे हैदराबाद के निजाम ने जन–आंदोलन को 'मुस्लिम–विरोधी' और कश्मीर के महाराजा ने 'हिंदू विरोधी' घोषित किया, जबकि त्रावनकोर के महाराजा का दावा था कि जन–आंदोलन के पीछे ईसाइयों का हाथ है।[8]

इन सभी वर्षों के दौरान ब्रिटिश सरकार अपने उन अधीनस्थ सहयोगियों (देसी राजाओं–महाराजाओं) का उपयोग प्रांतों में राष्ट्रवाद की नई शक्तियों के विरुद्ध प्रभावी हथियार के रूप में करती रही। लेकिन जब इन राजा–महाराजाओं को राष्ट्रवादी नेताओं से अपनी शासन–संबंधी आंतरिक स्वतंत्रता को चुनौती मिलने लगी तो वे अधिकाधिक बौखलाहट के शिकार होने लगे।[9] इस बौखलाहट का एक कारण यह भी था कि अंग्रेजी राज के अधिकारी लगातार ''सर्वोच्चता'' की शक्ति–सीमाओं को फैलाते रहते थे। 1928 में सर हारकार्ट बटलर की अध्यक्षता में गठित इंडियन स्टेट्स कमेटी ने अपनी रिपोर्ट (1929) में घेरे में बंद इन राजाओं को वादे के रूप में केवल यह रियायत दी कि उनकी सहमति के बिना ब्रिटिश भारत
में लोकतांत्रिक ढंग से निर्वाचित किसी सरकार को सर्वोच्चता का हस्तांतरण नहीं किया जाएगा, लेकिन साथ ही साथ उसने असीमित शक्तियों वाली सर्वोच्च सत्ता की ''सर्वोच्चता'' पर फिर से बल दिया। इससे सर्वोच्चता का सिद्धांत अभी तक स्वीकृत किसी भी सीमा से आगे तक फैल गया। अब दीवारों से पीठ लग जाने और दो पाटों के बीच में दब जाने के बाद राजाओं ने राजनीति में रुचि लेनी शुरू कर दी और कुछ नरमपंथी राजनीतिज्ञों से मेलजोल बढ़ाने लगे।

चौथे दशक के मध्य में परस्पर जुड़े हुए दो घटनाक्रमों ने रियासतों के तत्कालीन हालात को काफी प्रभावित किया। पहली घटना थी भारत सरकार अधिनियम 1935 द्वारा सांविधानिक रूप से देशी रियासतों को शेष भारत से जोड़ने की योजना, जिसका सुझाव सबसे पहले 1928 में नेहरू रिपोर्ट ने दिया था। देशी रियासतों को मिलाकर भारत को एक संघीय स्वरूप प्रदान किया जाना था। संघ का विचार रियासतों को अपनी मौजूदा स्थिति से बाहर निकलने का एक आदर्श रास्ता नजर आया। एक स्वतंत्र अखिल भारतीय संघ में शामिल होकर वे ''सर्वोच्च्ता की जकड़'' से निकल सकते थे और साथ ही अपनी आंतरिक स्वतंत्रता को भी सुरक्षित रख सकते थे। लेकिन इस विषय पर भी सभी राजा एकमत नहीं थे और महाराजा पटियाला इस गुट के नेता थे। अंततः 11 मार्च 1932 को एक आपसी समझौता किया गया, जिसे ''दिल्ली समझौता'' के नाम से जाना जाता है, और 1 अप्रैल 1932 को चैंबर ऑफ प्रिंसेज ने इस समझौते का अनुमोदन कर दिया। अब संघ की माँग को भारतीय राजाओं की एक संवैधानिक माँग के रूप में पेश किया गया। लेकिन इस माँग के साथ कुछ ऐसे सुरक्षा उपाय भी जुड़े हुए थे जिन्हें निश्चित था कि अंग्रेज और राष्ट्रवादी दोनों अस्वीकार कर देते, जैसे वे संघीय विधायिका की ऊपरी सदन में चैंबर ऑफ प्रिंसेज के सभी सदस्यों के लिए अलग–अलग सीटें, संधियों से प्राप्त अधिकारों की रक्षा, और सबसे बढ़कर संघ से अलग होने का अधिकार।[10] अंग्रेजों को संघ का विचार पसंद था क्योंकि ये राजा प्रांतों के राष्ट्रवादी राजनीतिज्ञों की काट कर रकते थे, लेकिन उनके संघ का विचार राजाओं के संघ के विचार से भिन्न था। अंततः जब 2 अगस्त 1935 को भारत सरकार अधिनियम 1935 को शाही स्वीकृति मिली, तब उसमें शामिल संघ की योजना राजाओं के बहुमत को संतुष्ट नहीं कर सकी। रियासतों से प्रतिनिधि चुनने का अधिकार राजाओं–महाराजाओं को दिया गया था और उनकी संख्या संघीय विधानमंडल की कुल संख्या की एक तिहाई थी। कांग्रेस, राज्य जन–कॉन्फरेंस तथा अन्य जन–संगठनों ने माँग की कि रियासतों की जनता खुद अपने प्रतिनिधियों का चुनाव करे क्योंकि राजाओं के एजेंट जनता के प्रतिनिधि नहीं हो सकते हैं। अंततः यह योजना लागू नहीं हो सकी।

दूसरी घटना थी 1937 में ब्रिटिश भारत के विभिन्न प्रांतों के चुनावों में कांग्रेस का नाटकीय राजनीतिक उत्थान, जिससे देशी रियासतों के राजा–महाराजा बौखला उठे। कांग्रेस के सत्ता में आने से रियासतों की जनता में नई चेतना और एक नया आत्मविश्वास पैदा हुआ, नई उम्मीदें बँधीं और राजनीतिक सरगर्मियाँ तेज हो गईं। इस बदलाव को रियासतों के राजाओं ने भी महसूस किया। अब उत्तरदायी सरकार और नए सुधारों को लेकर कई रियासतों में आंदोलन उठ खड़े हुए। ऐसी रियासतों में जहाँ कोई जन–संगठन नहीं बना था, वहाँ बड़ी संख्या में ''प्रजामंडलों'' का गठन हुआ। कांग्रेस अब केवल विपक्ष की भूमिका निभाने वाली पार्टी नहीं रह गई थी; अब वह सत्ता में थी और कांग्रेसी सरकारें अपने प्रांतों के आसपास की रियासतों के राजनीतिक घटनाओं को प्रभावित कर सकती थीं, लेकिन अभी तक कांग्रेस रियासतों में अहस्तक्षेप की नीति पर कायम थी। जयपुर, कश्मीर, राजकोट, पटियाला, हैदराबाद, मैसूर, त्रावनकोर और उड़ीसा जैसी रियासतों में स्थानीय प्रजामंडलों ने बड़े पैमाने पर आंदोलन खड़े किए, ब्रिटिश रेजीडेंट के सक्रिय संरक्षण में राजाओं ने अनियंत्रित दमन का सहारा लिया। उड़ीसा कांग्रेस अहस्तक्षेप की पुरानी नीति पर चलते हुए इसे चुपचाप देखती रही।[11]

कांग्रेस की हस्तक्षेपवादी नीति का आरंभ

1930 के दशक के उत्तरार्ध में नेहरू और बोस जैसे वामपंथी कांग्रेसी नेता रियासतों को ब्रिटिश भारत के राजनीतिक घटनाक्रमों से जोड़ने के लिए उनमें अधिक से अधिक हस्तक्षेप की वांछनीयता पर अधिक जोर देने लगे।[12] कांग्रेस कार्यसमिति ने भी अक्टूबर 1937 में रियासतों के जन–आंदोलन को नैतिक और भौतिक समर्थन देने का निर्णय किया। इसके बाद 1938 में कांग्रेस के हरिपुरा सत्र में रियासतों के मामलों में अहस्तक्षेप की परंपरागत कांग्रेसी नीति का परित्याग कर दिया गया और रियासतों के जन–आंदोलनों को समर्थन देने–संबंधी एक प्रस्ताव पारित किया गया। यद्यपि उनको कोई सांगठनिक सहायता नहीं दी जानी थी, लेकिन कांग्रेस कार्यकारी समिति की एक विशेष उपसमिति के नेतृत्व में नेतागण व्यक्तिगत रूप से उनमें भाग ले सकते थे। दरअसल कांग्रेस ने देख लिया था कि जनता राजनीतिक रूप से जागरूक हो चुकी है और संघर्ष पर उतारू है। कांग्रेस का सोशलिस्ट और वामपंथी गुट तो बहुत पहले से ही इसके लिए कांग्रेस नेतृत्व पर दबाव डाल रहा था। कांग्रेस की नीति–परिवर्तन के संबंध में गांधी ने एक भेंटवार्ता में 25 जनवरी 1938 को टाइम्स ऑफ इंडिया को

स्पष्टीकरण दिया, ''मेरी राय में रियासतों में हस्तक्षेप न करने की नीति सही थी, क्योंकि तब जनता जागरूक नहीं हुई थी। अब, जबकि जनता राजनीतिक रूप से जागरूक हो चुकी है और संघर्ष के लिए तैयार है, पुरानी नीति पर चलना कायरता होगी। वैधानिक, संवैधानिक तथा अन्य कृत्रिम सीमाएँ (जो रियासतों और ब्रिटिश भारत के बीच थीं) तो उसी क्षण टूट गईं, जिस क्षण जनता जागरूक हुई।'' कांग्रेस ने 1938 में जब अपने स्वाधीनता के लक्ष्य को परिभाषित किया, तो उसने रियासतों की स्वाधीनता को भी इसमें शामिल कर लिया। फरवरी 1939 में नेहरू ने ब्रिटिश भारत तथा रियासतों के राजनीतिक संघर्षों के साझे राष्ट्रीय लक्ष्यों को सामने रखने के लिए ''ऑल इंडिया स्टेट्स पीपुल्स कॉन्फरेंस'' के लुधियाना अधिवेशन की अध्यक्षता की और त्रिपुरी कांग्रेस ने रियासतों की जनता के आंदोलनों में और भी सक्रिय रूप से भाग लेने की संयुक्त कार्रवाई की योजना का अनुमोदन कर दिया। इस प्रकार ब्रिटिश इंडिया और देशी रियासतों में छिड़े आंदोलन अब खुले रूप में एक–दूसरे से जुड़ गए, जिससे पूरे भारत में एकता की एक नई चेतना फैल गई।

1938 के अंत और 1939 के आरंभ में अगले कुछ महीनों में, कांग्रेस के सक्रिय संरक्षण के साथ, स्थानीय प्रमंडलों और ऑल इंडिया स्टेट्स पीपुल्स कॉन्फरेंस के नेतृत्व में प्रचंडतम जन–आंदोलनों ने भारतीय रियासतों, विशेषकर मैसूर, जयपुर, राजकोट, त्रावनकोर, कश्मीर और हैदराबाद को हिलाकर रख दिया। मैसूर और राजकोट जैसे कुछ छोटे और मझोले आकार की रियासतें इस तरह के उभार के लिए तैयार नहीं थीं, इसलिए उन्होंने झुककर कांग्रेस के प्रति एक अधिक समझौतावादी रूख अपनाया और कुछ सांकेतिक रियायतें दे दीं, लेकिन बड़ी रियासतों ने भयानक हठ के साथ दबाव का जमकर विरोध किया और देर से सही, उनको अंग्रेज अधिकारियों की सहायता भी मिली। राजकोट में स्वयं गांधी ने एक अग्रणी भूमिका निभाई। जब शांतिपूर्ण प्रदर्शन अनेक हिंसक कार्यों में और आगे चलकर दक्षिण में सांप्रदायिक दंगों में परिवर्तित हो गए, तो विवश होकर गांधीजी ने अप्रैल 1939 में यह आंदोलन वापस ले लिया। शरद ऋतु के आगमन तक स्थिति फिर सामान्य हो गई। इस तरह 1939 में अधिकांश राजाओं के मतानुसार कांग्रेस अपना असली रंग दिखा चुकी थी। फलतः जनवरी 1939 में जब लिनलिथगो ने एक संशोधित प्रस्ताव में रियासतों को कुछ छोटी–मोटी रियायतें देने की कोशिश की तो प्रस्तावित संघ के प्रति रियासतों का विरोध और कड़ा हो गया और जून में चैंबर ऑफ प्रिंसेज की बंबई सभा ने उसे एक सिरे से अस्वीकार कर दिया।

अगस्त में यूरोप में द्वितीय विश्वयुद्ध छिड़ने से राजनीतिक माहौल में जबरदस्त बदलाव आया। भारत सचिव जेटलैंड ने संघ के प्रस्ताव को तुरंत 'ठंडे बस्ते' में डाल दिया।[13] नवंबर 1939 में कांग्रेसी सरकारों ने इस्तीफा दे दिया। अंग्रेजी हुकूमत ने ''भारतीय प्रतिरक्षा कानून'' (डिफेंस ऑफ इंडिया रूल) पारित किया जिससे रियासतों में राजनीतिक गतिवधियाँ थम–सी गईं। किंतु 1942 में जब ''भारत छोड़ो'' आंदोलन शुरू हुआ तो ब्रिटिश भारत के साथ–साथ रियासतों में भी संघर्ष का शंखनाद हुआ और रियासतों की जनता भारतीय स्वाधीनता के संघर्ष में शामिल हो गई। अब रियासतों में भी ''भारत छोड़ो'' के नारे गूँजने लगे और रियासतों को भारत का अभिन्न अंग मानने की माँग की जाने लगी।

द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति के बाद 1945–47 में हैदराबाद, त्रावनकोर, कश्मीर और पटियाला जैसी अनेक रियासतों में अनेकों जन–आंदोलन हुए, जिसमें लोगों ने अधिक राजनीतिक अधिकार और संविधान सभा में पर्याप्त प्रतिनिधित्व देने की माँग की। 1945 में उदयपुर में तथा 1947 में ग्वालियर में अखिल भारतीय राज्य जन–सम्मेलन का आयोजन किया गया, जिनकी अध्यक्षता पं. जवाहरलाल नेहरू ने की। उन्होंने स्पष्ट घोषणा की कि जो रियासतें संविधान सभा में सम्मिलित होने से इन्कार करेंगी, उनसे शत्रुतापूर्ण व्यवहार किया जाएगा।

सत्ता–हस्तांतरण और रियासतों की समस्या

सत्ता–हस्तांतरण के समय रियासतों की समस्या बड़ी जटिल हो गई, खासकर इसलिए कि ब्रिटिश सर्वोच्चता की समाप्ति के बाद 565 रियासतों का भविष्य क्या होगा? औपचारिक संकल्पों और औपचारिक संधियों के द्वारा ब्रिटिश सम्राट ने रियासतों द्वारा कुछ राजनीतिक अधिकारों के समर्पण के बाद उनकी रक्षा का वचन दिया था। बदली हुई राजनीतिक परिस्थितियों में ब्रिटेन की मजदूर दल की सरकार सत्ता–हस्तांतरण के बाद रियासतों के इस दायित्व से मुक्त होना चाहती थी। 12 मई 1946 को कैबिनेट मिशन ने घोषणा की कि सत्ता के हस्तांतरण के साथ ही 'सर्वोच्चता' समाप्त हो जाएगी और रियासतों को उनके द्वारा छोड़े गए अधिकार वापस मिल जाएंगे। वे या तो ब्रिटिश भारत के उत्तराधिकारी राज्य/राज्यों के साथ या संघीय संबंध बनाने के लिए

स्वतंत्र होंगे या फिर अपने हितकारी किसी और राजनीतिक व्यवस्था में बँधने के लिए स्वतंत्र होंगे। इस तरह इस घोषणा ने अनजाने में ही राजाओं के मन में यह बात भर दी कि उन्हें स्वतंत्र रहने का विकल्प प्राप्त होगा। इस गलती के ठीक करने के लिए माउंटबेटन की ''बाल्कन योजना'' में भी कुछ नहीं किया गया और केवल यह कहा गया कि रियासतों को प्रांतों के इस या उस महासंघ में शामिल होने की स्वतंत्रता होनी चाहिए या फिर वे स्वतंत्र रह सकते हैं। 3 जून की घोषणा में भी रियासतों से संबंधित नीति अपरिवर्तित रही। फिर माउंटबेटन ने अनुभव किया कि कांग्रेस के नेता, विशेषकर नेहरू और पटेल, रियासतों की स्वतंत्रता को पसंद नहीं करते हैं। इसलिए उन्होंने राजाओं–महाराजाओं को समझाने का प्रयास किया कि वे केवल तीन क्षेत्रों, संचार, राजनय और प्रतिरक्षा में, जिनमें उनको पहले भी कोई अधिकार प्राप्त नहीं था, अपने अधिकार त्यागकर भारत में शामिल हो जाएं। पटेल, जो अब नए राज्य विभाग के प्रमुख थे, इस योजना को मानने के लिए तैयार हो गए, बशर्ते वायसरॉय उन्हें ''सेबों से भरी एक टोकरी'' दे दें।[14] यह एक कठिन कार्य था क्योंकि जून के आरंभ तक भोपाल, त्रावनकोर, कश्मीर और हैदराबाद जैसी कुछ रियासतों ने स्वतंत्र रहने की इच्छा व्यक्त कर दी थी। अब वायसरॉय के पास उनकी बाँह मरोड़ने के सिवा कोई रास्ता नहीं था, क्योंकि उन्हें कांग्रेस को डोमिनियन स्टेट्स और विभाजन स्वीकार करने पर मनाना था। अंततः वायसरॉय और उनके मंत्रियों ने दबाव डालकर विलय को बढ़ावा दिया।

15 अगस्त 1947 तक कश्मीर, हैदराबाद एवं जूनागढ़ को छोड़कर लगभग सभी रियासतों ने भारत संघ में शामिल होने के लिए विलय–पत्र पर हस्ताक्षर करके केवल तीन विषयों– रक्षा, विदेशी मामले और संचार पर अपने अधिकारों का समर्पण कर दिए और शासन के कुछ अवशिष्ट अधिकार अपने पास रख लिए। देसी रियासतों के शासक विलय–पत्रों पर हस्ताक्षर करने के लिए इसलिए तैयार हो गए थे क्योंकि उनके समक्ष इसके अतिरिक्त कोई अन्य विकल्प नहीं था और आंतरिक राजनैतिक संरचना में कोई परिवर्तन नहीं हो रहा था। लेकिन वे (वायसरॉय) पूरी टोकरी देने में असफल रहे। कश्मीर और हैदराबाद ने स्वतंत्र रहने का निर्णय किया और जूनागढ़ ने पाकिस्तान में विलय के दस्तावेज पर हस्ताक्षर कर दिए।

देश का तीव्रगति से एकीकरण सरदार वल्लभभाई पटेल की एक महान् उपलब्धि थी। स्वतंत्रता और विभाजन के बाद जुलाई 1947 में वल्लभभाई पटेल ने वी.पी. मेनन के साथ मिलकर रियासतों की समस्या का ''अंतिम समाधान'' करने का निश्चय किया, जो नए भारत की राजनीति में गतिरोध बने हुए थे। इस परियोजना में रियासतों का बड़ी प्रशासकीय इकाइयों में एकीकृत करना तथा अथवा उनका पहले के प्रदेशों में विलय करना, उनका तीव्र गति से प्रजातंत्रीकरण करना, और पूर्णरूप से संघीय केंद्र के अधीन शामिल करना शामिल था। अनेक राजाओं को करमुक्त विशेषाधिकार, राज्यपाल एवं राजप्रमुख के पद और अन्य लाभों के रूप में पेंशन देकर रियासतों से हटा दिया गया; कुछ को विदेश मिशनों में अधिकतर औपचारिक पद दे दिए गए, किंतु इसका अर्थ यह नहीं था कि वह सभी इस शांतिपूर्ण क्रांति में खुशी–खुशी शामिल हो गए। जूनागढ़ के नवाब, हैदराबाद के निजाम और जम्मू–कश्मीर के महाराजा ने इसका विरोध किया और इन मामलों में राजसत्ता के अधिकार का दृढतापूर्वक प्रयोग किया गया। जनता के विद्रोह और भारत सरकार द्वारा की गई नाकेबंदी करने के कारण विवश होकर जूनागढ़ का नवाब पाकिस्तान भाग गया। इसके बाद भारतीय सेना ने राज्य पर नियंत्रण कर लिया। कश्मीर के महाराजा हरि सिंह ने भी भारत या पाकिस्तान में शामिल होने में आनाकानी की, किंतु जब कश्मीर पर पाकिस्तान के पठानों और कबाइली फौजी दस्तों ने हमला कर दिया, तो विवश होकर हरि सिंह को भी अक्टूबर 1947 में भारत में मिलना और विलय–पत्र पर हस्ताक्षर करना पड़ा। उधर निजाम की स्वतंत्रता की महत्वाकांक्षा को नष्ट करने के लिए आखिरकार भारतीय टैंक सितंबर 1948 में हैदराबाद पहुँच गए[15] और 13 दिसंबर 1948 को भारतीय सेना ने हैदराबाद पर नियंत्रण स्थापित कर लिया।

भारतीय संघ में रियासतों के विलय और उसके औचित्य पर इतिहासकारों के बीच मतभेद रहा है। कुछ इतिहासकारों ने ब्रिटिश सम्राट पर न्यायोचित संधिजनित दायित्वों के एकतरफा हनन की नैतिकता, शुचिता और वैधता पर सवाल उठाए हैं। इन इतिहासकारों ने राजाओं के प्रति आरंभ में माउंटबेटन के लापरवाह रवैये और बाद में उनसे दबंग व्यवहार करने की आलोचना की है। कुछ इतिहासकारों को अक्खड़ रियासतों को अपनी टोकरी में लाने के लिए पटेल द्वारा अपनाए गए तरीके ''संदिग्ध वैधता'' से संपन्न लगते हैं।[16] लेकिन अनेक इतिहासकार मानते हैं कि रियासतों का अंत ऐतिहासिक दृष्टि से परिहार्य था, क्योंकि निरंकुश शासन पहले ही

अतीत के अवशेष हो चुके थे और वे एक नया जीवन पाने की पात्रता नहीं रखते थे। दूसरे शब्दों में ''दो अलग–अलग भारतों के विरोधाभास का मरना स्पष्ट तौर पर अनिवार्य था।''[17] इसलिए नए स्वतंत्र भारत में असहाय राजाओं के लिए कोई जगह नहीं रह गई थी।

संदर्भ–संकेत

1. विपिन चन्द्र, 2008, आधुनिक भारत का इतिहास, पृष्ठ 315।
2. मायाराम, 1997, रिसिस्टिंग रिगमे : मिथ, मेमोरी एंड दि शेपिंग ऑफ ए मुस्लिम आइडेंटिटी, पृष्ठ 53–97।
3. इयान कॉपलैंड, 1999, दि प्रिंसेज ऑफ इंडिया इन दि इंडगेम ऑफ एंपायर, 1917–1947, पृष्ठ 32–35।
4. रैमजक 1978, दि प्रिंसेज ऑफ इंडिया इन दि ट्वीलाइट ऑफ एंपायर : डिस्साल्यूशन ऑफ ए पैटरॉन–क्लाइंट सिस्टम, 1914–1939, पृष्ठ 77–93।
5. डी. वाइडल 1997, वाइलेंस एंड ट्रूथ : ए राजस्थानी किंगडम कन्फ्रॉन्ट्स कॉलोनियल अथॉरिटी, पृष्ठ 113–56।
6. बिपिन चन्द्र व अन्य, 1995, भारत का स्वतंत्रता संघर्ष, पृष्ठ 289।
7. रैमजक 1978, दि प्रिंसेज ऑफ इंडिया इन दि ट्वीलाइट ऑफ एंपायर : डिस्साल्यूशन ऑफ ए पैटरॉन–क्लाइंट सिस्टम, 1914–1939, पृष्ठ 181 में उद्धृत।
8. विपिन चन्द्र, 2008, आधुनिक भारत का इतिहास, पृष्ठ 315–16।
9. मेनर 1978, दि डेमाइज ऑफ दि प्रिंसली ऑर्डर : ए रिएसेस्मेंट, इन पीपुल, प्रिंसेज एंड पैरामाउंट पॉवरः सोसायटी एंड पॉलिटिक्स इन दि इंडियन प्रिंसली स्टेट्स, संपा. आर. जेफ्री, 306–28, पृष्ठ 310–16।
10. इयान कॉपलैंड, 1999, दि प्रिंसेज ऑफ इंडिया इन दि इंडगेम ऑफ एंपायर, 1917–1947, पृष्ठ 70 में उद्धृत।
11. बिस्वमॉय पति, 1993, रिसिस्टिंग डॉमिनेशन : पीजेंट, ट्राइबल्स एंड दि नेशनल मूवमेंट इन ओडिसा, 1920–50, पृष्ठ 88–108।
12. रैमजक 1978, दि प्रिंसेज ऑफ इंडिया इन दि ट्वीलाइट ऑफ एंपायरः डिस्साल्यूशन ऑफ ए पैटरॉन–क्लाइंट सिस्टम, 1914–1939, पृष्ठ 81–82।
13. इयान कॉपलैंड, 1999, दि प्रिंसेज ऑफ इंडिया इन दि इंडगेम ऑफ एंपायर, 1917–1947, पृष्ठ 181 और आगे।
14. एच.वी. हॉडसन 1969, दि ग्रेट डिवाइड : ब्रिटेन, इंडिया, पाकिस्तान, पृष्ठ 368।
15. इयान कॉपलैंड, 1999, दि प्रिंसेज ऑफ इंडिया इन दि इंडगेम ऑफ एंपायर, 1917–1947, पृष्ठ 257–68।
16. ज्युडिथ ब्राउन, 1994, मॉडर्न इंडिया, दि ओरिजिन ऑफ ऐन एशियन डेमोक्रेसी, पृष्ठ 346।
17. मेनर 1978, दि डेमाइज ऑफ दि प्रिंसली ऑर्डर : ए रिएसेस्मेंट, इन पीपुल, प्रिंसेज एंड पैरामाउंट पॉवरः सोसायटी एंड पॉलिटिक्स इन दि इंडियन प्रिंसली स्टेट्स, संपा. आर. जेफ्री, 306–28, पृष्ठ 323।

●●●

साइबर अपराध : स्वरुप एवं बचाव

डॉ. राहुल गुप्ता
सहायक आचार्य
समाजशास्त्र विभाग,
महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ,
वाराणसी।

अपराध सदा से ही एक सर्वव्यापी अवधारणा रही है। चूंकि मनुष्य स्वभाव से ही एक संघर्षशील प्राणी रहा है। अतः यह कल्पना करना कि कोई भी समाज अपराध मुक्त होगा संभवत सही नही है। वर्तमान समय में विकसित और विकासशील दोनों देशों में अपराध एक गम्भीर चुनौती बन गई है। जैसे–जैसे विज्ञान प्रौधोगिकी का विकास हो रहा है अपराध का ग्राफ भी बढ़ता जा रहा है। राष्ट्रीय अपराध रिकार्ड ब्युरो जो भारत में होने वाले अपराधों का लेखा–जोखा संग्रहीत करता है के अनुसार प्रति वर्ष अपराध की संख्या में तो वृद्धि हो ही रही है साथ ही साथ अपराध के नवीन स्वरुप भी दिखाई पड़ रहे है।

यदि हम अपराध की ऐतिहासिक अवधारणा के विषय में चर्चा करे तो पता चलता है कि जैसे–जैसे सामाजिक परिस्थितियां बदलती रही अपराध की अवधारणा भी बदलती रही है। जैसे 12वीं 13वीं शताब्दी तक इग्लैण्ड में राज्य या धर्म के विरुद्ध किये जाने वाले कार्य जैसे देशद्रोह, ईशनिन्दा इत्यादि अपराध की श्रेणी में आते थे जबकि हत्या को अपराध नही माना गया था। 18वीं 19वीं शताब्दी में फ्रांस और इटली में अपराध एक दैवीय कृत्य था अर्थात् अपराध ईश्वरीय अवकृपाा से सम्बन्धित है कि अवधारणा परिवर्तित होकर अपराधी स्वयं अपराध के लिये उत्तरदायी होता है, हो गई थी।

प्राचीन समाजों की बात करे तो स्मृतिकारों ने उस काल को स्वर्णकाल कहा है लोग नीतियुक्त आचरण करते थे परन्तु कालान्तर में उन लोगों के जीवन में भी बेईमानी का प्रवेश हो गया इसी कारण से विद्वानों तथा राजाओं ने मिलकर नियमों और विभिन्न दुराचरणों के लिए कानूनों का निर्माण भी किया। मनु ने वर्णित किया है कि कृतयुग (सतयुग) में धर्म अपनी पूर्णता के साथ विराजमान था, किन्तु आगे चलकर चोरी, झूठ एवं धोखाधड़ी के कारण क्रमशः तीनों युगों (त्रेता, द्वापर एवं कलयुग) में धर्म की अवनति होती गयी। स्पष्ट है कि अपराध की समस्या सभी कालों और युगों में विद्यमान रही है। अतः ऐसे किसी काल की परिकल्पना नही की जा सकती जिससे अपराध का समावेश न रहा हो। सभी युगों और समाजों में अपराध से सम्बन्धित कृत्य होते रहे है और आगे भी होते रहेंगे। यह अलग तथ्य है कि एक समाज में जिस कृत्य को अपराधिक कृत्य के रुप में स्वीकार किया जाता हो दूसरे समाज में उसे आपराधिक कृत्य न माना जाता हो। यही एक प्रमुख कारण है कि अपराध की कोई एक सार्वभौमिक एवं सार्वदेशिक परिभाषा नही बन पाई है। उदाहाराणार्थ इग्लैण्ड में जारता (Adultry) केवल एक अपकृत्य है न की अपराध, जबकि भारतीय दण्ड सहिता की धारा 497 के अन्तर्गत इसे एक गम्भीर अपराध माना गया है। इन्हीं कारणों से अपराध को परिभाषित करने के सम्बन्ध में दो विचार धाराएं दिखाई पड़ती है जिसमें एक शास्त्रीय सनातन तथा निश्चयवादी और दूसरे को नवउन्मेषकारी सान्दर्भिक तथा परिमार्जनवादी कहना ज्यादा तर्कसंगत होगा। प्रथम स्वरुप कानून की सीमाओं में संकुचित रहती है तथा द्वितीय स्वरुप सामाजिक परिवेश में। इस आधार पर अपराध को कानून एवं सामाजिक दृष्टिकोण के परिपेक्ष्य में परिभाषित किया जा सकता है।

सदरलैण्ड एवं केसी (1968) ने अपराधिक व्यवहार को वह व्यवहार माना है जिसके द्वारा आपराधिक कानून का उल्लघंन होता है इनका मानना है कि कोई भी कार्य कितना भी निन्दनीय, अनैतिकतापूर्ण क्यो न हो

उसे तब तक अपराध नही माना जा सकता जब तक कि आपराधिक कानून द्वारा उस निषिद्ध घोषित न किया जा चुका हो।

इटैलियन अपराधशास्त्री रेफेल गेरोफेलो (1914) ने अपराध के विधिक परिभाषाओं को अस्वीकार करते हुए इसकी समाजशास्त्रीय परिभाषाओं की अधिक उपयुक्त माना है जिसके अनुसार अपराध एक ऐसा कृत्य है जो मानव की दया (करुणा) तथा न्यायिकता की भावनाओं (sentimets of pity and probity) पर प्रत्याघात करता है।

बार्न्स एवं टीटर्स (1966) ने अपराध को एक ऐसे कार्य के रुप में परिभाषित किया है जिसे समूह र्प्याप्त रुप से खतरनाक समझता है तथा किसी ऐसी भर्त्सनात्मक एवं दण्डात्मक कार्यवाही की संस्तुति करता है जिससे इस प्रकार के अपराधी भयभीत हो जाये तथा वैसा कार्य न करें।

विभिन्न विचारकों ने अपराध की परिभाषा देने के साथ इसके स्वरुपों पर भी चर्चा की है। चूँकि अपराध एक समरुपता वाला व्यवहार नहीं है। इसलिये भी इसके वर्गीकरण के लिए विभिन्न आधारों का प्रयोग किया गया है। अपराध के इन्हीं स्वरुपों में एक नवीन स्वरुप साइबर अपराध का भी है। जैसे–जैसे हम विकास एवम् प्रगति के सोपान पर आगे बढ़ते जा रहे है वैसे–वैसे ही हमारी निर्भरता तकनीकी पर भी बढती जा रही है। प्रस्तुत शोध पत्र में अपराध के इस नवीन स्वरुप साइबर अपराध के विभिन्न प्रकारों तथा इसके दुष्प्रभावों इत्यादि पर अध्ययन के पश्चात् इससे बचने के उपायों पर प्रकाश डालने का प्रयास किया गया है। इस शोध पत्र को पूर्ण करने के लिए द्वितीयक स्रोतो का प्रयोग किया गया है।

विश्व के विकसित देशों की तुलना में भारत वर्ष में विगत सदी के आठवें दशक के आस–पास सूचना प्रौद्योगिकी, इलेक्ट्रानिक मीडिया, और कम्प्यूटर के बढ़ते अनुप्रयोग के पश्चात् नवीन प्रकार का अपराध अस्तित्व में आता हुआ दिखाई पड़ता है। जिसे साइबर अपराध के नाम से जाना जाता है। जहाँ एक ओर वैश्वीकरण के इस दौर में तकनीकी ज्ञान और तकनीक के नवीन संसाधन महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर रहे है वही दूसरी ओर इस ज्ञान और संसाधन का दुरुपयोग भी बहुत तेजी से हो रहा है। कम्प्यूटर, इण्टरनेट और संचार की गति में दिन–प्रतिदिन नये–नये अविष्कारों से वृद्धि हो रही है जिससे दुनियां के अन्य राष्ट्रों, संस्कृतियों और व्यक्तियों के मध्य दूरी कम से कमतर होती जा रही है। लेकिन इन नवीन संसाधनों के उपयोग में सर्वाधिक नकारात्मक तथ्य यह है कि सामने बैठा व्यक्ति जिससे हम अपने सामाजिक, सांस्कृतिक, व्यावसायिक और आर्थिक व्यवहार को साझा करते है वो पूरी तरह से अदृश्य होता है। इस कारण से ऐसे अपराधी जो सभी तकनीकी संसाधनों के संचालन में महारत हासिल किये हुए होते है वो ऐसे – ऐसे अपराधों को अजांम दे देते है जिसके विषय में कल्पना भी नही की जा सकती है। इन अपराधों में कुछ प्रमुख अपराध जैसे गोपनीय सूचनाओं का दुरुपयोग, आतंकवादियों तक गोपनीय दस्तावेजों को पहुँचाना, मनीलांड्रीग, अवांछित, अश्लील तथा लैंगिक प्रसारण, कर की चोरी, स्टाक एक्सचेंज में बदलाव, गलत प्रमाण पत्र का निर्माण, बैंको के साथ धोखाधड़ी इत्यादि।

चूंकि साइबर अपराध का मुख स्रोत इण्टरनेट होता है अतः यह जानना भी आवश्यक है कि इस स्रोत का प्रारम्भ कहॉ हुआ? ऐसा माना जाता है कि सर्वप्रथम अमेरिकी रक्षा अनुसंधान विभाग ने वर्ष 1969 में इण्टरनेट का प्रयोग प्रारम्भ किया। परन्तु ब्रूसस्टार्लिंग का मानना है कि अमेरिकी युद्ध मन्त्रालय द्वारा शीतयुद्ध के दौरान सभी संचार प्रणालियों के समाप्त हो जाने के अनुमान की वजह से एक ऐसी प्रणाली (इण्टरनेट) का अविष्कार किया गया जो वैकल्पिक व्यवस्था के रुप में उपलब्ध हो सके। बाद में बर्ल्ड वाइड वेवसाइट का विकास हुआ लगभग 1994 तक आते–आते वर्ल्ड वाइड बेव ने मजबूती के साथ अपनी उपयोगिता का एहसास सभी को करा दिया था। बाद में उत्तरोत्तर इसका दायरा विस्तृत होता गया और जैसे–जैसे कम्प्यूटर और इण्टरनेट की सुविधाऐ सुलभ होती जा रही है। इसका प्रयोग आपराधिक गतिविधियों में बढ़ता जा रहा है। वैसे साइबर अपराध की वृद्धि के कुछ अन्य कारण भी दृष्टिगोचर है।

1. कम्प्यूटर में ज्यादा से ज्यादा आँकड़े कम जगह में सुरक्षित रखे जा सकते है तथा जब चाहे उसको प्रयोग या समाप्त भी किया जा सकता है किन्तु कम्प्यूटर से जब चाहे सुरक्षा मानको को तोड़कर आँकड़ों की चोरी की जा सकती है। चूंकि कम्प्यूटर की भाषा कूट संकेतो द्वारा निर्मित होती है। जिसे सामान्य मस्तिष्क आसानी से नही समझ सकता है। जबकि साइबर अपराधी इसे आसानी से समझकर आँकड़ों को चुराकर उसका दुरुपयोग कर लेता है और आसानी के साथ प्रयोग के पश्चात् वो सभी साक्ष्यों को मिटा भी देता है।

साइबर अपराधों को अलग–अलग विद्वानों द्वारा विभिन्न प्रकार से वर्गीकृत किया गया है। जिसको मुख्यतः दो अलग–अलग भागों में विभक्त करके देखा जाता है।

1. **परम्परागत वर्गीकरण –** सिवर उल्रिच ने आर्थिक स्वरुप के साइबर अपराध तथा निजता के विरुद्ध साइबर अपराध को परम्परागत वर्गीकरण के अर्न्तगत रखा है।

2. **सामान्य वर्गीकरण–** इसके अर्न्तगत व्यक्ति के विरुद्ध साइबर अपराध, सम्पत्ति के विरुद्ध साइबर अपराध तथा समाज राज्य के विरुद्ध साइबर अपराध को रखा गया है।

उपरोक्त के अतिरिक्त साइबर अपराध के अन्य विविध आयाम भी है जिनको जानना अत्यन्त आवश्यक है। इसके अन्तर्गत साइबर पोर्नोग्राफी या साइबर पोर्न, स्टेकिंग (Stelking), हेकिंग (Hacking), वायरस हमले , साइबर आतंकवाद, मनी लाउड्रिंग (Money Laundering) डाटा डिडलिंग (Data Diddling) इत्यादि।

साइबर पोर्नोग्राफी (Cyber Pornography)– किसी भी प्रकार का अश्लील चित्रण या लेखन जिसे वेवसाइट और इण्टरनेट के माध्यम से दर्शाया जाय। साइबर पोर्नोग्राफी के अर्न्तगत आता है। इसका सर्वाधिक दुष्प्रभाव युवाओं और खासकर बच्चों पर पड़ता है जो व्यस्कता की आयु पर पहुँचने से पूर्व ही आधी अधूरी और खतरनाक जानकारी प्राप्त कर लेते है। जिससे वे स्वयं तथा समाज का अहित करने लगते है।

स्टेंकिग (Stalking)– इसके अर्न्तगत किसी भी ऐसे व्यक्ति को ई–मेल के माध्यम से संन्देश भेजना आता है जिसको की सन्देश भेजने वाला व्यक्ति अपनी पहचान छुपाकर सन्देश भेजता रहता है। खासकर इस अपराध में महिलाओं को सन्देश भेजा जाता है। चूंकि अपराधी घर में ही बैठकर यह अपराध करता है। तथा उसके पकड़े जाने का डर भी नही रहता और साइबर स्पेस में अपराध के घटित होने के कारण अपराधी दिखाई भी नही पड़ता है। कैलीफोर्निया विश्व का पहला देश है जिसने स्टेंकिग को अपराध की श्रेणी में शामिल किया था।

हैकिंग (Hacking)–

साइबर अपराधों में हैकिंग एक महत्वपूर्ण साइबर अपराध है। सामान्यतः हैकिंग का अर्थ किसी अन्य उपयोगकर्त्ता के एकाउन्ट से सम्बन्धित जानकारी को हैकर द्वारा गलत तरिके से प्राप्त कर उसके दुरुपयोग या समस्त जानकारी को समाप्त किये जाने से है तब कभी भी उपयोगकर्ता कम्प्यूटर और इण्टरनेट से किसी भी प्रकार का कार्य प्रारम्भ करना चाहता है तो उसको अपनी पहचान बताने के लिए यूजर आई डी तथा उस एकाउन्ट के सुरक्षा के लिए किसी पासवर्ड की आवश्यकता होती है। किन्तु हैकर उस उपयोगकर्ता के एकाउन्ट के पासवर्ड तथा यूजर आई डी को अपने ज्ञान और जानकारी के द्वारा तोड़कर अवैध रुप से उस एकाउन्ट में प्रवेश कर लेता है। इसी अवैध प्रवेश को ही हैकिंग कहा

जाता है। हैकरों द्वारा कभी कभी गोपनीय दस्तावेज जो देश की सुरक्षा से सम्बन्धित होते है को भी हैक कर लिया जाता है। इन्हीं वजह से हैकिंग को एक प्रमुख साइबर अपराध की श्रेणी में रखा गया है।

वायरसः–

साइबर अपराधों की दुनिया में वायरस भी एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। वायरस एक कम्प्यूटर जनित प्रोग्राम है जो कम्प्यूटर में कई माध्यमों से प्रवेश कर सकता है और उस कम्प्यूटर के सारे महत्वपूर्ण आँकड़े समाप्त कर सकता है। 1970 के दशक में सबसे पहला वायरस क्रीपर की खोज की गई थी। बाद में मैलवेयर, ट्रोजन होर्स, इत्यादि वायरस इण्टरनेट की सहायता से कम्प्यूटर में प्रवेश करके सारे आँकड़ों को समाप्त कर देते है ,और सिस्टम को नुकसान पहुँचाते है। समान्यतः यह वायरस कम्प्यूटर की स्मृति को अपने नियंत्रण में कर लेते है। कुछ साइबर अपराधी वायरस हमले की धमकी देकर अपनी बात मनवाने का दबाव भी डालते रहते है।

साइबर आतंकवाद –

साइबर अपराध के अन्तर्गत साइबर आतंकवाद, अपराध का वह तरीका है जिसमें कम्प्यूटर, कम्प्यूटर नेटवर्क तथा इसमें संग्रहीत सूचनाओं पर प्रहार करके इस देश की जनता तथा सरकार में भय का वातावरण फैलाकर आतंकवादियों द्वारा अपनी मांगों को पूरा करने सम्बन्धी कार्य किये जाते है। विल्सन क्ले (2003) के अनुसार, ''यह एक ऐसा आपराधिक कृत्य है जो कम्प्यूटर तथा दूर संचार माध्यमों के द्वारा किया जाता है जिसका परिणाम जघन्य हिंसा तथा लोक सेवाओं को अस्त व्यस्त या ध्वस्त कर दिया जाता है ताकि सम्बन्धित देश/राज्य में भय, संकट और दहशत की स्थिति उत्पन्न की जा सके।'' सामान्यतः देखा गया है कि वायु यातायात नियंत्रण संयत्र, पावर प्लांट, बैंक, दूरसंचार, परमाणु संयत्र इत्यादि साइबर आतंकियों के निशाने पर होते है।

मनी लाउड्रिंगः–

आर्थिक हेर फेर से सम्बन्धित यह साइबर अपराध धीरे–धीरे अपनी जड़े मजबूत करता जा रहा है। इस अपराध में इण्टरनेट के माध्यम से काले धन को सफेद धन में परिवर्तित किये जाने का कार्य होता है। हर वर्ष भारत में करोड़ो रुपये मनी लाउड्रींग के द्वारा काले धन से सफेद धन में परिवर्तित किये जाते है। कुछ पकड़ में आते है तब इसकी गम्भीरता का अंदाजा लगाया जाता है। जैसे 2014 में पश्चिम बंगाल में सारदा घोटाले में मनी लाउड्रींग के द्वारा आम जनता के करोड़ो रुपये अपराधियों द्वारा जब्त कर लिये गये।

बौद्धिक सम्पदा से सम्बन्धित अपराध :–

जैसे–जैसे हम इण्टरनेट और कम्प्यूटर पर आश्रित होते जा रहे है वैसे–वैसे नये प्रकार के अपराध भी अस्तित्व में आते जा रहे है। किसी भी उत्पाद की विश्वसनीयता उसके ट्रेडमार्क और गुणों से निश्चित होती है किन्तु वर्तमान समय में इण्टरनेट के माध्यम से किसी भी बहुराष्ट्रीय कम्पनी के ट्रेडमार्क की नकल करके वास्तविक गुणवत्ता वाली वस्तु के स्थान पर नकली सामाग्री को बाजार में बेंच देना तथा उस ट्रेडमार्क की साख खराब करना भी एक प्रकार का साइबर अपराध है। साथ ही किसी लोगों प्रतीक इत्यादि का उपयोग कॉपीराइट अधिनियम का उल्लंघन भी है। ट्रेडमार्क बौद्धिक सम्पदा अधिकार का ही हिस्सा होता है।

ध्यातव्य है कि उपरोक्त साइबर अपराध के स्वरुपों में अतिरिक्त अन्य बहुत से साइबर अपराध भी अस्तित्व में है। इन अपराधों से आम जनमानस सीधे या परोक्ष रुप से प्रभावित होती है साथ ही देश को

भी सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक हानि का सामना करना पड़ता है। इन साइबर अपराधों को अगर हम आँकड़ो के रुप में प्रदर्शित करके देखे तो इसकी गम्भीरता का सहज अंदाजा लगा सकते है।

सारणी संख्या– 01

वर्ष 2011 से वर्ष 2016 के माध्य साइबर अपराधों की संख्या

क्र.सं.	वर्ष	आई.टी. एक्ट 2000 के अर्न्तगत पंजीकृत मामले	आई.पी.सी. के अर्न्तगत दर्ज मामले	कुल अपराध	गिरफ्तार आपराधियों की संख्या
01	2011	1791	422	2213	1630
02	2012	2876	601	3477	2071
03	2013	4356	1337	5693	3301
04	2014	7201	2421	9622	5752
05	2015	8045	3547	11592	8121
06	2016	9267	4653	13920	10435
स्रोत :–ना.वि. परांजपे, अपराधशास्त्र, दण्ड प्रशासन एवं प्रपीड़नशास्त्र पृ. 174–175					

सारणी संख्या 01 का अवलोकन करने पर यह पता चलता है कि प्रतिवर्ष भारत वर्ष में साइबर अपराधों की संख्या में निरन्तर और तीव्र वृद्धि हो रही है। जहाँ वर्ष 2011 में कुल अपराधों का योग 2213 था वो 2016 तक जाते जाते 13920 हो गया है यह आँकड़ा यह प्रदर्शित करता है कि साइबर अपराध अब काफी तेजी के साथ भारतीय समाज में फैल रहा है, यह एक चिन्ताजनक तथ्य है। चूंकि भारत जैसे देश में जहाँ साक्षरता का प्रतिशत अभी भी एक सम्मानजनक स्थिति में नहीं पहुँच पाया है वहाँ साइबर अपराध बहुत ज्यादा हानि पहुँचाने में सफल होगा।

साइबर अपराध को रोकने हेतु उठाये गये प्रभावी कदम :–

भारत में साइबर अपराध और अपराधियों से निपटने के लिये वर्ष 2000 में सूचना पौधेगिकी अधिनियम 2000 का निर्माण किया गया था। जिसे 17 अक्टूबर, 2000 से लागू भी कर दिया गया तत्पश्चात इसके लिए सजा का प्रवधान भी किया गया और भारतीय दण्ड संहिता में 29 क' एक नई धारा भी जोड़ दी गयी।

सूचना प्रौधोगिकी अधिनियम 2000 का निर्माण राष्ट्र संघ द्वारा 1996 में प्रस्ताव के आधार पर किया गया था। इस अधिनियम के प्रमुख उद्देश्यों में इलेक्ट्रॉनिक डाटा फार्डविंग दस्तावेज को संरक्षित करने तथा ई. गर्वनेन्स और ई–कॉमर्स के दौरान होने वाले अपराधों को रोकना था। वैसे इस अधिनियम में कुल चार अनुसूचियाँ तथा 94 धाराएँ है। इसमें वर्ष 2008 तथा 2011 में कुछ संशोधन भी किये गये। इस अधिनियम के अन्तर्गत निम्नलिखित अपराधों के लिए दण्ड का प्रावधान किया गया है।

1, धारा 66 के अन्तर्गत हैंकिग को साइबर अपराध की श्रेणी में रखा गया है जिसके लिए 3 वर्ष का कारावास या दो लाख रुपये की सजा या फिर दोनो दिया जा सकता है।

2, धारा 67 के अन्तर्गत कोई भी अश्लील जानकारी का प्रकाशन साइबर अपराध की श्रेणी में आये या इसके लिए भी 3 वर्ष का कारावास या दो लाख रुपये का अर्थदण्ड या फिर दोनों दिया जा सकता है।

3, धारा 43 के अन्तर्गत किसी भी कम्प्यूटर सिस्टम में अनाधिकृत प्रवेश को साइबर अपराध की श्रेणी में रखा गया है।

4, धारा 65 के अनुसार कम्प्यूटर द्वारा जारी दस्तावेजों में किसी भी प्रकार की छेड़छाड़ भी आपराध है इसके लिए 3 वर्ष की सजा या दो लाख रुपयों के दण्ड का प्रावधान है।

5, धारा 71 के अन्तर्गत डिजिटल हस्ताक्षर के आवेदन में दिया गया गलत ब्यौरा भी साइबर अपराध है। इसके लिए दो वर्ष की सजा या 1 लाख रुपये जुर्माना का प्रावधान है।

6, धारा 74 के अन्तर्गत यदि कोई व्यक्ति किसी गलत आशय से यदि डिजिटल हस्ताक्षर तैयार करता है तो उसे दो वर्ष का कारावास या 1 लाख रुपये का अर्थदण्ड दिया जायेगा।

7, इसके साथ ही भारतीय दण्ड संहिता की धारा 29 क के अन्तर्गत विभिन्न धाराओं में अलग–अलग साइबर अपराधों के लिए दण्ड का प्रावधान किया गया है। सिर्फ भारत ही नही वरन् विश्व के अन्य देशों ने भी साइबर अपराध को रोकने के लिए अपनी–अपनी विधियों का निर्माण किया है। जैसे अमेरिका ने 1986 में,युनाइटेड किंगडम ने 1990, चीन ने 1990 में ,जापान ने 1999, फ्रांस ने 2000 आस्ट्रेलिया ने 2001 में।

निष्कर्ष :–

निष्कर्षतः हम कह सकते है कि जहाँ दिन–प्रतिदिन हम इण्टरनेट की तेज गति प्राप्त करने के लिए $4^{जी}$, $5^{जी}$, $6^{जी}$ $-10^{जी}$ की ओर अग्रसर हो रहे है वही साइबर अपराध का खतरा बढ़ता जा रहा है आज प्रतिदिन अखबारों और न्यूज चैनलों से यह खबर मिलती है कि अमुक व्यक्ति को साइबर अपराध का सामना करना पड़ा । साइबर अपराध को रोकने के लिए प्रत्येक देश कुछ न कुछ प्रयोग करते रहते है तथा अपनी विधि संहिताओं में भी नये नये भाग जोड़ते रहते है जिससे अपराधियों में भयवित हो सके परन्तु साइबर अपराधी भी कोई न कोई तोड़ निकालते रहे है। और साइबर अपराधें में वृद्धि होती जा रही है। बैकिग व्यवस्था ने अवैध ट्रांजैक्सन पर लगाम लगाने तथा सही उपभोक्ता द्वारा ही निकासी या खाते का संचालन हो सके के लिए वन टाइम पासवर्ड जैसी व्यवस्था की है। फिर भी ए.टी.एम. क्लोनिंग, सिमकार्ड क्लोनिग जैसी घटनाए भी प्रकाश में आते रहती है। अतः इन सभी घटनाओं को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि प्रत्येक व्यक्ति को जागरुक होना होगा तथा किसी भी साइबर अपराध के मामले को तुरन्त सम्बन्धित एजेंसी को सूचित करें जिससे त्वरित गति से उसकी रोकथाम की जा सके साथ अपनी गोपनियता और गोपनीय दस्तावेजों को लेकर हमेशा सजग रहे और किसी भी अन्जान व्यक्ति के साथ उसे साधा न करें। इन उपायों को अपनाकर हम साइबर अपराधों पर कुछ हद तक रोक लगा सकते है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. Cornwall, Hugo (1985), The Hacker's Handbook, Century, London.
2. Paranjape, N.V. (2017), Criminology, Penology and Victimology, Central Law Publications, Allahabad.
3. Siddique, Ahmad (2017), Criminology Peology and Victimology Eastern Book Company, Lucknow.
4. सिंह, श्यामधर (2008), अपराधशास्त्र के सिद्धान्त, सपना अशोक प्रकाशन, वाराणसी।
5. परांजये, ना. वि. (2018) अपराधशास्त्र, दण्ड प्रशासन एवं प्रपीड़नशास्त्र, सेन्ट्रल लॉ पब्लिकेशन्स, इलाहाबाद।
6. WWW.Wikipedia.com

●●●

प्राचीन भारत की शिक्षण विधियाँ

डा0 प्रमोद कुमार
असिस्टेन्ट प्रोफेसर
किसान पी0जी0 कालेज बहराइच (उ0प्र0)

प्राचीन भारत की शिक्षण विधियों का शिक्षा प्रक्रिया पर विशेष महत्व है।लिपि का ज्ञान न होते हुए भी प्राचीन भारत की शिक्षण विधिया वैयक्तिक क्षमताओं के विकास में पूर्ण सक्षम थी। जिनमें से आज भी कुछ प्रासंगिक हो सकती है। प्राचीन भारत में लिपि का ज्ञान होते हुए भी शिक्षण मौखिक था तथा वैयक्तिक क्षमताओं पर निर्भर था। अनेक शिक्षण विधियां प्रचलित थीं जिनमें से कुछ आज भी प्रासंगिक हो सकती है, लेकिन वैज्ञानिक शिक्षण विधियों का अभाव था। तुलनात्मक दृष्टि से जैन शिक्षण विधियां अन्य परम्पराओं की शिक्षण विधियों की तुलना में अधिक पूर्ण एवं पुष्ट थी तथा लौकिक विषयों के भी अनुकूल थीं।

यह स्पष्ट किया गया है कि तुलनात्मक दृष्टि से प्राचीन शिक्षण विधिया अन्य परम्पराओं की शिक्षण विधियों की तुलना में अधिक पूर्ण एवं पुष्ट थीं तथा लौकिक विषयों के भी अनुकूल थीं। धर्मशास्त्रकालीन हिन्दू गुरूकुलों में अध्ययन अध्यापन का ढंग मौखिक था। लिपि का ज्ञान हो जाने के बाद भी वेदों के संरक्षण और भावी संतति को समर्पण के लिये लिपि विज्ञान की सहायता नहीं ली जाती थी। इस युग में ''वेद लेखन अशुभ माना जाता था और वेद के लेखक दूषित और उसके विक्रेता नरकगामी माने जाते थे।''[1]

हिन्दू परम्परा में शिक्षण विधियाँ :– धर्मशास्त्र कालीन हिन्दू गुरूकुलों में निम्नलिखित शिक्षण विधियाँ प्रचलित थीं।

संवाद अथवा मौखिक विधि :– वेदों का शिक्षण स्मरण शक्ति पर निर्भर था। वेदों के पाठ में लेशमात्र का भी स्वर या उच्चारण दोष न होने पाये इसका ध्यान रखा जाता था। इसके विपरीत कालंतर में अवैदिक साहित्य के संरक्षण एवं अध्यापन के लिये लिपि कला की सहायता ली जाने लगी थी। लिपि कला के प्रचलन विषयक कथन वायु पुराण में प्राप्त है, ''गाथा, आख्यान, विषयक पुस्तक लिखने अथवा लिखवाने से लक्ष्मी प्रशन्न रहती है।''[2]

शास्तार्थ या वाद–विवाद विधि :– धर्म शास्त्र काल में विद्वानों के बीच शास्तार्थ एवं वाद–विवाद हुआ करता था। गुरूकुलों में वाद–विवाद निरंन्तर हुआ करते थे। जिनमें साहित्य, काव्य, न्याय और दर्शन के विद्यार्थी स्वपक्ष के सिद्धान्तों का समर्थन ओर विपक्ष के तर्को का खण्डन करते थे। विष्णु पुराण में वर्णित है कि ''तुल्यं स्वभाव वालों में विवाद अपेक्षित था।''[3] वायु और ब्राहमाण्ड पुराणों में वर्णन आया है कि ''विवाद में श्रषियों द्वारा पराजित होने के उपरान्त वसु मुनि का अधः पतन हुआ था।''[4]

ग्रन्थपाठ एवं पुनरावृत्ति :– ब्रहमचारी के जीवन में ग्रन्थों का पाठ और पुनरावृत्ति का महत्वपूर्ण स्थान था। शिक्षक अवकाश के क्षणों में उसे अभ्यास के लिये प्रश्नों के हल लिखते–पढ़ते थें। शिक्षण पठित पाठ की आवृत्ति और पुनरावृत्ति भी करवाता था। इस शिक्षण विधि से अध्यापक शिष्य की स्मरणशक्ति का विकास करता था। वेदों को कण्ठस्थ करके उस सदा स्मृति पटल में रखना परमावश्यक था। मनु और याज्ञवल्क्य ने ''वेद विष्मरण को ब्रहमहत्या के समान कहा था।''[5] इस विधि के द्वारा सूत्र प्रणाली का विकास हुआ था।

विचार गोष्ठी :– धर्मशास्त्र काल में विचार गोष्ठियों के माध्यम से भी छात्रों के ज्ञान का विकास लिया जाता था। सम्राटों की राजसभायें विद्वानों से सुशोभित रहती थीं। कनिष्क, पुष्यमित्र, चन्द्रगुप्त आदि शासक ऐसे ही थे। इन शासकों के दरबार में प्रायः ज्ञान चर्चायें हुआ करती थीं। वात्स्यायन ने ऐसी विचार गोष्ठियों का विवरण दिया है ''जहां लोगों को मधुर वार्तालाप करने का अवकाश मिलता था तथा सामाजिक एकत्रीकरण होता था। इस प्रकार की गोष्ठियों में साहित्यिक एवं धार्मिक परिचर्चायें हुआ करती थीं तथा उनके प्रतिभाशाली विद्वान प्रकाश में आते थे।''[6] इन गोष्ठियों में छात्र भी भाग लेकर विभिन्न विषयों का विशेष ज्ञान प्राप्त करते रहे होंगे।

व्याख्यान विधि :– धर्मशास्त्र काल में व्याख्यान विधि सर्व प्रमुख प्रचलित विधि थी। आचार्य किसी विषय का वादन करता था और छात्र उसको सुनते थे, जहां उन्हें शंका होती थी, वहां गुरू से स्पष्टीकरण प्राप्त करते थे।

व्याख्यान विधि में शिक्षक एवं छात्र प्रत्यक्ष रूप से आमने–सामने रहते थे। विष्णुपुराण में वर्णित है कि ''पितामाह अब्जयोनी के प्रवचन से ऋषियों ने प्रस्तुत पुराण का ज्ञान लाभ किया था। फिर ब्रह्मा के शिष्यों ने इसका गुरूओं से श्रवण किया था।''[7] शिक्षक व्याख्यान देने से पहले विषय के वर्णन की रूपरेखा निर्धारित कर लेते थे। मत्स्य पुराण के वर्णन से विदित होता है कि ''पुराण के प्रवक्ता वर्ण्यशैली को ग्राहय बनाने की चेष्टा करते थे।''[8] वयाख्यान के दौरान शिक्षक कठिन शब्दों की सरल शब्दों में व्याख्या भी करता था। वायु और ब्राह्माण्ड पुराणों से विदित होता है कि, ''प्रवचन करने वाले, उदाहरण–बोधक श्लोकों द्वारा वर्ण्य विषय को समर्थित भी करते थे।''[9]

<u>जैन परम्परा में शिक्षण विधियां :–</u> जैनियों द्वारा प्रतिपादित शिक्षा का सम्पूर्ण विषय सम्यग्–दर्शन, सम्यग्–ज्ञान और सम्यक–चरित्र के अन्तर्गत समाविष्ट हो जाता है। इन्हीं तीनों को मोक्ष प्राप्ति का मार्ग कहा गया है। अर्थात् वस्तु के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान सम्यग–ज्ञान, वस्तु के वास्तविक स्वरूप को समझकर दृढ़ निष्ठापूर्वक हदयंगम करना सम्यग–दर्शन तथा व्यावहारिक रूप में उसे जीवन में उतारना सम्यक–चरित्र है। तत्वार्थसूत्र में इन्हें प्राप्त करने की दो विधियां बतायी गयी हैं – ''निःसर्ग विधि''[10] एवं ''अधिगम विधि।''[11]

1– **निःसर्ग विधि :–** निःसर्ग का अर्थ होता है – स्वभाव। बुद्धिमान व्यक्ति को किसी गुरू अथवा शिक्षक द्वारा शिक्षा प्राप्त करने की आवश्यकता नहीं रहती है। जीवन के विकास क्रम में वह स्वतः ही ज्ञान के विभिन्न विषयों को सीखता है। तत्वों का सम्यक ज्ञान वह स्वतः प्राप्त करता है और सम्यक बोध तथा सम्यक ज्ञान की उपलब्धियों को जीवन में उतारकर चरित्र को प्राप्त करता है, इसे ही निःसर्ग विधि करते हैं।

2– **अधिगम विधि :–** पदार्थ का ज्ञान होना अधिगम है अर्थात् दूसरों को सिखाने अथवा उपदेश से जो पदार्थों का ज्ञान होता है, उसे अधिगम कहते है। इस विधि के माध्यम से ज्ञानी (प्रतिभावान) तथा अल्पज्ञानी सभी प्रकार के व्यक्ति ज्ञान प्राप्त करते है तथा यही तत्व ज्ञान का कारण बनता है। अतः अधिगम विधि में शिक्षक का होना अनिवार्य है। गुरू के उपदेश से जीव और जगत् के तत्वों का ज्ञान प्राप्त करना अधिगम विधि है। इसके निम्नांकित भेद है – (क) निःक्षेप विधि:[12] – लोक व्यवहार में अथवा शास्त्र में जितने शब्द होते है, वे वहां किस अर्थ में प्रयोग किये जाते है, इसका ज्ञान निःक्षेप विधि है। एक ही शब्द के विभिन्न प्रसंगो में भिन्न–भिन्न अर्थ हो सकते है। इन अर्थो का ज्ञान निःक्षेप विधि द्वारा किया जाता है, अर्थात् अनिश्चितता की स्थिति से निकलकर निश्चितता में पहुंचना निःक्षेप विधि है। निःक्षेप विधि के चार प्रकार निम्नलिखित है।

नाम निःक्षेप :– जा अर्थ ''व्युत्पत्ति सिद्ध न हो अर्थात् ''व्युत्पत्ति की अपेक्षा किये बिना संकेत मात्र के लिए किसी व्यक्ति या वस्तु का नामकरण करना, नाम निःक्षेप विधि है।''[13] जैसे एक ऐसा व्यक्ति जिसका नाम सेवक हो पर उसमें सेवक के गुण न हो। नाम निःक्षेप विधि द्वारा जैन आचार्य शिष्य को ज्ञान प्राप्ति के प्रथम चरण का ज्ञान प्रदान करते थे।

स्थापना निःक्षेप :– ''वास्तविक वस्तु की प्रतिकृति, मूर्ति, चित्र आदि बनाकर अथवा बिना आकार बनाये ही किसी वस्तु में उसकी स्थापना करके मूल वस्तु का ज्ञान कराना, स्थापना निःक्षेप विधि है।''[14]

द्रव्य निःक्षेप :– ''पूर्व और उत्तर अथवा भूत एवं वाद की स्थिति को ध्यान में रखते हुए वस्तु का ज्ञान कराना, द्रव्य निःक्षेप विधि है।''[15] जैसे कोई व्यक्ति सेवा कार्य नही करता किन्तु वह सेवा कार्य कर चुका है और भविष्य में करने वाला है।

भाव निःक्षेप :– ''वर्तमान स्थिति को ध्यान में रखकर गुरू, वस्तु स्वरूप का जब शिष्य को ज्ञान कराये तो भाव निःक्षेप विधि कहलाती है।''[16]

(ख) प्रमाण विधि :– ''संशय आदि से रहित वस्तु का पूर्ण रूप से ज्ञान कराना प्रमाण विधि है।''[17] इस विधि के द्वारा ही गुरू शिष्य को जीव और जगत का पूर्ण एवं प्रमाणिक ज्ञान प्रदान करता था। सम्यग–ज्ञान को भी प्रमाण के अन्तर्गत माना जाता है। प्रमाण विधि दो प्रकार की है – प्रत्यक्ष, परोक्ष। प्रत्यक्ष के भी दो प्रकार है – इन्द्रिय प्रत्यक्ष, परमार्थिक या सकल प्रत्यक्ष। इसी प्रकार परोक्ष विधि के पांच प्रकार है – स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम आदि।

(ग) ''नय विधि'' :– [18]''किसी भी विषय का सापेक्ष निरूपण करने वाला विचार, नय कहलाता है। इस विधि के द्वारा वस्तु के स्वरूप का आंशिक विश्लेषण करके ज्ञान कराया जाता है। नय के दो भेद किये गये है – (1) द्रव्यार्थिक नय (2) पर्यायर्थिक नय।

मनुष्य की बुद्धि कभी वस्तुओं के समान गुण की ओर झुकती है तो कभी विशेष गुण की ओर। जब वह सामान्य गुण की ओर झुकती है, तब उसका वह विचार द्रव्यार्थिक नय कहलाता है। और जब वह विशेष अंश या गुण को ग्रहण करती है तब पर्यायर्थिक नय कहलाता है।

(घ) अनुयोगदार विधि :– तत्वों के विस्तृत ज्ञान के लिए कुछ विचारणाद्वारों का निर्देश किया गया है, जिसे जैन सूत्रों में अनुयोगदार कहा गया है। अनुयोग का अर्थ होता है कि व्याख्या या विवरण द्वारा अर्थात् प्रश्न। ''प्रश्न ही वस्तु में प्रवेश करने के अर्थात विचारणा द्वारा उसकी तह तह पहुंचने के द्वार है।''[19]

(च) स्वाध्याय विधि :– स्वाध्याय विधि का प्रयोग विशिष्ट ज्ञान की प्राप्ति के लिए किया जाता है। ज्ञान प्राप्ति करना उसे सन्देह रहित, विषद और परिपक्व बनाना तथा उसके प्रचार का प्रयत्न करना ये सभी स्वाध्याय के अन्तर्गत आ जाते है।

स्वाध्याद शब्द 'स्व' और 'अध्याय' तथा 'सु' और 'अध्याय' से मिलकर बना है जिसका अर्थ होता है 'स्व' अर्थात् आत्मा के लिए हितकर शास्त्रों का अध्ययन करना स्वाध्याय है।''[20] सम्यक् शास्त्रों का अध्ययन करना स्वाध्याय है'' – इसके पांच प्रकार है–

1– **वाचना :–** वाचना का अर्थ होता है 'पढ़ना'। शब्द का शुद्ध उच्चारण करना, अर्थ को शुद्ध रूप से ग्रहरण करना, बिना बिचारे न तो जल्दी–जल्दी और न रूक–रूक कर पढ़ना तथा 'आदि' शब्द से पढते हुए अक्षर या पद न छोड़ना आदि वाचना है।''[21]

2– **प्रच्छना :–** प्रच्छना, पूछना, प्रश्न करना आदि अर्थ को ग्रहरण करता है। 'ग्रन्थ' अर्थ और दोनों के विषय में'' ''क्या यह ऐसा है अथवा अन्यथा है'' इस सन्देह को दूर करने के लिए अथवा ''यह ऐसा ही है'' इस प्रकार से निश्चित को भी दृढ़ करने के लिए प्रश्न कना स्वाध्याय का मुख्य अंश है।''[22]

3– **अनुप्रेच्छा :–** जाने हुए या निश्चित हुए अर्थ से जो बार–बार चिन्तन किया जाता है, वह अनुप्रेच्छा है। अनुप्रेच्छा के अन्तर्गत ही स्वाध्याय का लक्षण, अन्तर्जल्य रूप पाठ आता है वाचना वगैरह में बहिर्जल्य (अन्तदृष्टि) होता है। 'धर्मामृत' में ''अनुप्रेक्षा को स्वाध्याय का प्रकार बताया गया है।''[23]

4– **आम्नाय :– ''**पढ़े हुए ग्रन्थ को शुद्धतापूर्वक पुनः पुनः उच्चारण को आम्नाय कहते है।''[24]

5– **धर्मकथा :–** ''देववंदना के साथ मंगलपाठ पूर्वक धर्म का उपदेश को धर्म कथा कहते है।''[25] इस प्रकार स्वाध्याय के द्वारा विद्यार्थी श्रुत की अराधना करता है, ज्ञान की उपासना है और ज्ञान के दिव्य प्रकाश से अपने जीवन को उज्जवल बनाता है।

उपर्युक्त विधियों के अतिरिक्त आदि पुराण के अध्ययन से निम्नलिखित शिक्षण विधियों का पता चलता है, इन विधियों का जैनाचार्य, शिक्षण में प्रयोग करते थे।

1– **प्रश्नोत्तर विधि :–** प्रश्नोत्तर विधि में शिष्य प्रश्न करता है और प्रश्न का उत्तर देता है, साथ ही गुरू भी शिष्य से प्रश्न पूछते है। ''आदि पुराण'' में श्रेणिक प्रश्नकर्ता अर्थात शिष्य के प्रतीक हैं, तो गौतम गणधार उत्तरदाता अर्थात गुरू के प्रतीक है। आदि के बारहवें अध्याय में ''देवियाँ विभिन्न प्रकार के प्रश्न माता से पूछती है और माता उसका चमत्कार पूर्ण उत्तर देकर उनके ज्ञान का सवर्ध करती है।''[26] माता द्वारा दिये गये उत्तर से ज्ञात होता है कि समस्या पूर्तियां एवं पहेलियां भी इस विधि के अन्तर्गत आती है।''[27]

प्रश्नोत्तर विधि के माध्यम से गूढ एवं गुरूह विषय भी सरलतापूर्वक समझ में आ जाता था, जिससे शिष्य को ज्ञान के हदयंगम करने में सुविधा होती थी।

2– **शास्त्रार्थ विधि :–** शिक्षण की शास्त्रार्थ विधि प्राचीन शिक्षा पद्धति की मुख्य विधि थी, इस विधि के मुख्य रूप से दो वृक्ष होते है – एक वादी, दूसरा प्रतिवादी। इस विधि में गुरू शिष्य की तत्क्षण उत्तर प्रत्युत्तर देने की शक्ति का विकास करते है। ''स्वपक्ष की सिद्धि तथा परपक्ष में दोष निकालना ही शास्त्रार्थ विधि है।''[28]

3– **उपक्रम या अपोद्वाता विधि :–** आदि पुराण में कहा गया है कि '' प्रकृत अर्थात जिसका वर्णन करने की इच्छा है, ऐसे पदार्थ को शिष्य की बुद्धि में बैठा देना, उन्हें अच्छी तरह समझा देना, उपक्रम है तथा इसका दूसरा नाम उपोद्वात भी है।''[29] उपक्रम विधि के पांच भेद माने गये हैं – आनुपूर्वी नाम, प्रमाण, अभिधेय और अर्थाधिकार। आदिक्रम, मध्यक्रम और अन्त्यक्रम द्वारा वस्तुओं का प्रतिपादन करना आनुपूर्वी कहलाता है, जो गुरू या पाठक इस विधि को अपनाते है, वे किसी क्रम विशेष से पाठ्य विषय का विवेचन व्याख्यान करते है। जिससे विषय को हृदयंगम करने में सहायता प्राप्त होती है। ''नाम विधि के अन्तर्गत वस्तुओ के नामों का विस्तारपूर्वक वर्णन किया

जाता है। जो गुरू इस विधि के विशेषज्ञ होते है, वे अपनी वर्णन शैली में मनोरंजनकर्ता और समरसता लाने के लिए नाम विस्तार का प्रयोग करते हैं।''[30]

4– **पाठ विधि :–** इस विधि का प्रारम्भ ''आदि तीर्थकर त्रषभ देव से होता है। इस विधि के द्वारा उन्होनें अपनी कन्याओं – ब्राह्मी और सुन्दरी को शिक्षा दी थी''[31] इस शिक्षा विधि के अन्तर्गत तीन शिक्षण विधियों को बताया गया है – उच्चारण की शुद्धता, लेखन कला का अभ्यास तथा तर्कात्मक संख्या प्रणाली – यह प्रणाली विधि अल्पायु छात्रों के लिए अधिक उपयोगी है।

उपरोक्त शिक्षण विधियों के आलोक में यह कहा जा सकता है कि जैन शिक्षण विधियां अपने आप में पूर्ण एवं पुष्ट है। धर्मशास्त्रों में उल्लिखित शिक्षण पद्धतियों की विशेषतायें निम्न रूप में रखी जा सकती है – शिक्षण मौखिक था और पुस्तकों का प्रयोग सर्वथा नही किया जाता था तथा स्मरण शक्ति पर अत्यधिक जोर दिया जाता था :–

बौद्ध परम्परा में शिक्षण विधियां :– विभिन्न बौद्ध ग्रन्थों में विभिन्न प्रकार की शिक्षण विधियों के विवरण मिलते हैं, जिनके आधार पर शिक्षण विधियों को निम्न भागों में विभाजित किया जा सकता है – पाठ विधि, शास्त्रार्थ विधि, उपमा विधि, प्रश्नोत्तर विधि, उपदेश विधि, प्रमाण विधि, स्वाध्याय विधि।

1– **पाठ विधि :–** पाठ विधि के द्वारा बालक के शिक्षारम्भ की नीव डाली जाती थी, जिसके द्वारा बालक लेखन एवं वाचन करते हुए अंक एवं वर्णमाला का अभ्यास करता था। इस प्रकार गुरू, शिष्य के चन्दन की पट्टिका पर लिपि अर्थात् वर्णमाला, अंक आदि लिखना सिखाते थे। ''ललित विस्तार'' में ''बोधिसत्व के चन्दर की पट्टिका पर संख्या, लिपि, गणना आदि सीखने का वर्णन है।''[32] इत्सिंग के अनुसान ''वर्णमाला में चालीस अक्षर माने गये है।''[33]

2– **शास्त्रार्थ विधि :–** इस विधि का प्रयोग प्राचीन काल की मठीय बौद्ध शिक्षा परम्परा में व्यापक रूप से होता था। खण्डन–मण्डन आदि शास्त्रार्थ विधि से ही सम्बन्धित है। इस विधि में तथ्य एक ही होता है, तथ्य की प्राप्ति के लिये पूर्व पक्ष तथा उत्तर पक्ष विभिन्न तर्कों एवं युक्तियों का सहारा लेते हैं। विनय पटक के ''परिवार'' में चार प्रकार के अधिकरण बताये गये हैं''[34] जो निम्नलिखित हैं :–

(क) विवादाधिकरण :– जिस विषय पर भिन्न–भिन्न राय हो उसके सम्बन्ध में निर्णय करना विवादाधिकरण है।

(ख) अनुवादाधिकरण :– वह विषय जिसमें एक पक्ष दूसरे पक्ष को नियम उल्लंघन का दोषी ठहरावे, अनुवादाधिकरण है।

(ग) आपत्ताधिकरण :– जब किसी भिक्षु ने किसी आचार का जानबूझ कर उल्लंघन किया हो तो उस पर विचार करना आपत्ताधिकरण है।

(द) किच्चाधिकरण :– संघ के किसी नियम के विषय में विचार करना किच्चाधिकरण कहलाता है।

उपर्युक्त चार अधिकरणों (मामलों) का निर्णय शास्त्रार्थ विधि के द्वारा ही किया जाता था, ह्वेनसांग ने भी अपनी पुस्तक में लिखा है – ''शास्त्रार्थ का नियम प्रचलित होने के कारण विद्यार्थियों को कठिन से कठिन विषय भी शीघ्र ह्दयंगम हो जाता है, जिससे योग्यता बढ़ती है और निराशजनों को उत्तेजना मिलती है।''[35]

3– **उपमा विधि :–** उपमा विधि को उदाहरण विधि भी कहा जा सकता है। इस शैली का प्रयोग तथ्य विषय को और स्पष्ट करने के लिये किया जाता था। ''मिलिन्दपन्ह'' में नागसेन ने मिलिन्द के प्रश्नों का समाधान विभिन्न उपमाओं के माध्यम से किया है, ''ओपम्पकथापन्ह'' नामक सातवें अध्याय में उपमाओं के द्वारा नागसेन ने राजा मिलिन्द के प्रश्नों का उत्तर दिया है।''[36] इस विधि के द्वारा ''गुरू विषय को सरलतम ढंग से ह्दयंगम करने योग्य तथा कर्णप्रिय बनाते थे।''[37] जिससे विद्यार्थी आसानी से तथ्य समझ सके।

4– **प्रश्नोत्तर विधि :–** इस विधि में गुरू और शिष्य दोनों एक दूसरे में प्रश्न करते थे तथा एक दूसरे के प्रश्नों का उत्तर देते थे। ''कथावत्थु'' एवं मिलिन्दपन्ह में इस विधि की विशेष रूप से जानकारी प्राप्त होती हैं बौद्ध शिक्षण प्रणाली में प्रश्न तथा उत्तर चार प्रकार के बताये गये हैं।''[38]

(क) एकांशव्याकरणीय – जिस प्रश्न का उत्तर सीधे तौर से दिया जा सकता है।

(ख) विभजय व्याकरणीय – जिस प्रश्न का उत्तर विभक्त करके दिया जाता है।

(ग) प्रतिपृच्छाव्याकरणीय – जिस प्रश्न का उत्तर, एक दूसरा प्रश्न पूछकर दिया जात है। जैसे – क्या मनुष्य उत्तम है या अधम ? यहां उत्तर देने के लिए पूछना पड़ेगा कि किसके सम्बन्ध में ? यदि प्रश्न पशुओं के सम्बन्ध में है तो उत्तर उत्तम होगा यदि देवताओं के सम्बन्ध में है तो उत्तर अधम होगा।

(घ) स्थापनीय – जिस प्रश्न का उत्तर बिल्कुल छोड़ देने से ही दिया जाता है। जैसे क्या पंचस्कंघ तथा जीवित प्राणी (सत्व) एक ही होता है? क्योंकि बौद्ध परम्परा से सत्व कोई है ही नही, इसलिए इस प्रश्न का उत्तर छोड़ देने में ही दिया जा सकता है। ''इन चारों प्रकार को जानने वाला दुर्विजय, गंभीर, आनक्रमणीय अर्थ अनर्ध का जानकार और पण्डित होता है।''[39]

उपदेश विधि :– इस विधि में गुरू शिष्य की भाषण द्वारा शिक्षा प्रदान करते हैं। यह विधि बहुत ही प्राचीन तथा लोकप्रिय देखी जाती है। स्वयं भगवान बुद्ध बहुत ही प्राचीन तथा सर्वप्रथम सारनाथ में अपने शिष्यों को शिक्षा दी थी। विनय पिटक में कहा गया है कि, ''शिष्य को उपदेश ग्रहण करना चाहिए या स्वयं उपदेश करे या दूसरे से उपदेश ग्रहण के लिए प्रार्थना करे।''[40]

प्रामण विधि :– प्रमाण विधि से अज्ञात अर्थों को प्रमाणित किया जाता है। सभी अनर्थों की जड़ अविद्या है। इस अविद्या को दूर करने के लिए यथार्थ ज्ञान होना आवश्यक ही प्रमाण को परिभाषित करते हुए ''प्रमाणवार्तिक'' में कहा गया है कि, ''प्रमाण वह ज्ञान है, जो अज्ञात अर्थ को प्रकाशित करता है और वस्तु स्थिति के विरूद्ध कभी नही जाता, वह अविसंवादी होता है अर्थात् प्रमाण को नवीन अर्थ का ज्ञापक होना चाहिए उसमें तथा वस्तु स्थिति में किसी प्रकार का असामंजस्य नहीं होता, जो ज्ञान कल्पना के ऊपर अवलम्बित रहता है, वह सिम्वादी है तथा जो ज्ञान अर्थ क्रिया के ऊपर अवलम्बित रहता है वह अविसंम्वादी होता है।''[41]

प्रमाण को दो भागों में विभाजित किया गया है –

(1) स्वलक्षण अर्थात् प्रत्यक्ष, (2) सामान्य अर्थात् अनुमान

स्वाध्याय विधि :– बौद्ध शिक्षण प्रणाली में रचाध्याय पर भी बल दिया गया है। ''संयुक्त निकाय'' में वर्णन आया है कि स्वाध्याय से चित्त शांत रहता है, मन को संतोष मिलता है तथा वाह्य जगत में आदर और प्रतिष्ठा मिलती है।''[42] स्वाध्याय में मन की शांति के साथ–साथ इस दुःखमय संसार के प्रति वैराग्य की भावना भी उत्पन्न होती है। इसी प्रकार ''जातक'' में भी आचार्य के बारे में एक गाथा का वर्णन आया है, जिसे बुद्ध ने स्वाध्याय करने का उपदेश दिया है।''[43]

विष्कर्ष :– प्राचीन भारत में लिपि का ज्ञान होते हुए भी शिक्षण मौखिक था तथा वैयक्तिक क्षमताओं पर निर्भर था। अनेक शिक्षण विधियां प्रचलित थीं, जिनमें से कुछ आज भी प्रासंगिक हो सकती है, लेकिन वैज्ञानिक शिक्षण विधियों का अभाव था। तुलनात्मक दृष्टि से जैन शिक्षण विधियां अन्य परम्पराओं की शिक्षण विधियों की तुलना में अधिक पूर्ण एवं पुष्ट थी तथा लौकिक विषयों के भी अनुकूल थीं प्रायः पुस्तकों का प्रयोग नहीं किया जाता था तथा सभी परम्पराओं की शिक्षण पद्धतियां श्रवण, मनन, निदिध्यासन पर आधारित थीं।

सन्दर्भ ग्रंथ :–

1– महाभारत, 15.106.12

2– वायु पुराण, 112.64

3– विष्णुपुराण, 3.12.22

4– वायु पुराण, 1.102, ब्रहमाण्ड पुराण, 1.1.93

5– मनुस्मृति, 11.56

6– कामसूत्र–सोसल लाइफ इन एंसियण्ट इण्डिया, पृ0 163–65

7– विष्णुपुराण, 1.2.8–9

8– मत्स्य पुराण, 46.2

9– वायु पुराण, 70–76, ब्रहमाण्ड पुराण, 3.8.83–84

10– सर्वार्थसिद्धि, 1.3, पृ0 1

11– तत्वार्थसूत्र, 1.3

12– धवलाभाग, 4.1.3, 1–2, 6

13– तत्वार्थसूत्र, पृ0 6–7

14— वही
15— वही
16— तत्वार्थ सूत्र, पृ0 6—7
17— वही, सम्पकज्ञानं प्रमाण.....प्रमाण परीक्षा, पृ01
18— तत्वार्थ सूत्र, 1.34—35
19— वही, पृ0 8
20— धर्मामृत, अनागार, 7.82
21— वही, 7.83
22— वही, 7.84
23— वही, 7.86
24— वही, 7.87
25— वही
26— आदि पुराण में प्रतिपादित भारत, पृ0 267
27— आदि पुराण, 12.226
28— पूर्वोक्त नोट, 189, पृ0 26—69
29— आदि पुराण, 2.103
30— पूर्वोक्त नोट, 189, पृ0 269
31— वही, 189
32— ललित विस्तार (हिन्दी अनुवाद) अध्याय 10, पृ0 249
33— इत्सिंग रिकार्ड, पृ0 170—74
34— विनय पिटक – पंचम खण्ड (डा0 ओल्डन वर्ग संस्करण) अध्याय 9.13
35— ह्वेनसांग की भारत यात्रा (हिन्दी अनुवाद), पृ0 54
36— मिलिन्दपन्ह, पालि (ओपम्पकथापन्ह), पृ0 256
37— मिलिन्दपन्ह, वहिरकथा, गाथा 3—4
38— बौद्धदर्शन मीमांसा, पृ0 49
39— जैन दर्शन एवं संस्कृति का इतिहास, पृ0 399 (अंगुत्तर निकाय से उदृत)
40— विनयपिटक (राहुल सांस्कृत्यायन), पृ0 146
41— प्रमाणवार्तिक, 2.1, 2.4
42— संयुक्त निकाय (अनुवाद) भाग एक, पृ0 161
43— जातक कालीन भारतीय संस्कृति, पृ0 100

●●●

भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन में पूँजीपति वर्ग की भूमिका : एक विश्लेष्णात्मक अध्ययन

डॉ. विश्वनाथ वर्मा

एसोसिएट प्रोफेसर– प्राचीन इतिहास विभाग,

हरिश्चन्द्र स्नातकोत्तर महाविद्यालय, वाराणसी

औपनिवेशिक शासन के दौरान 19वीं सदी के मध्य में भारतीय पूँजीपति वर्ग का विकास हुआ, लेकिन भारतीय पूँजीपति विदेशी पूँजी की बैशाखी पर नहीं चल रहे थे और न ही वे विदेशी पूँजीपतियों के स्थानीय एजेंट थे। उन्नीसवीं सदी के अंतिम और बीसवीं सदी के आरंभिक वर्षों से भारतीय पूँजीपति वर्ग धीरे–धीरे परिपक्व और राजनीति में प्रभावशाली होने लगा था। पहले विश्वयुद्ध के अंत तक, विभिन्न कारणों से, पंजीकृत औद्योगिक उद्यमों की संख्या लगातार बढ़ती जा रही थी।[1] भारतीय पूँजीपतियों ने कई क्षेत्रों में यूरोपीय एकाधिकार को तोड़कर और विदेशी आयात के बदले स्वदेशी का हिस्सा बढ़ाकर एक साधारण से औद्योगिक विकास को बढ़ावा दिया। 1920 के बाद नए क्षेत्रों में ज्यादातर पूँजी–निवेश भारतीय पूँजीपतियों का ही था। 1944 तक एक हजार से अधिक मजदूरों वाली बड़ी औद्योगिक ईकाइयों में लगभग 62 प्रतिशत पर और उनके श्रम–बल के 58 प्रतिशत पर भारतीय पूँजी का नियंत्रण था। छोटे कारखानों में भी, जिनका औद्योगिक क्षेत्र में भाग 95.3 प्रतिशत था, भारतीय पूँजी का निरपेक्ष नियंत्रण था।[2] यह विकासक्रम तब हुआ जब भारतीय पूँजी ने अभी तक विदेशी पूँजी द्वारा अविकसित क्षेत्रों में प्रवेश किया, जैसे शक्कर, कागज, सीमेंट, लोहा और इस्पात आदि में। भारतीय पूँजी उन क्षेत्रों में भी जा पहुँची, जिन पर अभी तक विदेशी पूँजी का कब्जा था, जैसे वित्त, बीमा, जूट, खदानों और बागान में। आजादी के आसपास हालात यह हो गए थे कि देशी बाजार पर 72–73 प्रतिशत पर भारतीय पूँजी का ही नियंत्रण था। संगठित बैंकिंग क्षेत्र की कुल जमाराशि का 80 प्रतिशत भारतीय उद्यमियों का था।[3]

भारतीय उद्योगीकरण में यह असामान्य प्रगति, उपनिवेशवाद की सहज परिणति नहीं थी, बल्कि उसके बावजूद हुई थी। भारतीय उद्योगपतियों की पिछली पीढ़ी विदेशी पूँजी पर बहुत अधिक निर्भर थी और वह औपनिवेशिक सत्ता का प्रभुत्व तथा उसकी भेदभावपूर्ण नीतियों को मानने के लिए तैयार थी। किंतु एक विस्तारित सामाजिक आधार से आए भारतीय उद्योगपतियों की नई पीढ़ी अधिक परिपक्व और अपने अधिकारों के प्रति अधिक जागरूक थी। अपनी स्थिति को मजबूत करने के लिए वे स्वयं को संगठित करने लगे, जिसके परिणामस्वरूप 1887 में बंगाल नेशनल चैंबर ऑफ कॉमर्स और 1907 में बंबई में इंडियन मर्चेट्स चैंबर का जन्म हुआ।

पूँजीपति वर्ग का राजनीतिक दृष्टिकोण

साम्राज्यवाद के सापेक्ष राष्ट्रवाद के प्रति भारतीय पूँजीपति वर्ग के राजनीतिक दृष्टिकोण के सवाल पर इतिहासकारों में मतभेद है। एक ओर कुछ इतिहासकार मानते हैं कि साम्राज्यवाद के साथ एक अल्पकालिक निर्भरता और तालमेल का संबंध बनाए रखकर भी उसके साथ भारतीय पूँजीपति वर्ग का एक दीर्घकालिक अंतर्विरोध विकसित हुआ।''[4] बाद में पूँजीपति साम्राज्यिक शोषण के अंत और एक राष्ट्र–राज्य के जन्म की कामना करने लगे, पर उनकी ढाँचागत कमजोरियों और उपनिवेशी सरकार पर उनकी निर्भरता ने उनसे समझौते के साथ दबाव के समन्वय की विवेकपूर्ण रणनीति मनवाई। वे एक राष्ट्रवादी आंदोलन के पक्ष में थे, लेकिन सुरक्षित और स्वीकार्य सीमाओं के अंदर, अतिवादी वामपंथियों के मार्गदर्शन में नहीं, बल्कि दक्षिणपंथी, नरमपंथियों के भरोसेमंद हाथों में। वे लोग संगठित मजदूरों, अतिवादी वामपंथ और जन–आंदोलन से डरते थे, किंतु इनसे सुरक्षा पाने के लिए उन्होंने साम्राज्यवाद के समक्ष समर्पण नहीं किया। उन्होंने राष्ट्रवादी आंदोलन को संविधानवाद

की राह पर लाने के लिए, दक्षिणपंथियों को संरक्षण देने और इस तरह कांग्रेस को 'पूँजीवादी वैचारिक वर्चस्व' में ढालने के लिए एक वर्गीय रणनीति का विकास किया।

पूँजीपतियों को एक सुस्पष्ट साम्राज्यवाद–विरोधी विचारधारा से युक्त एक परिपक्व वर्ग मानने वाले इस दृष्टिकोण के विपरीत कुछ इतिहासकार समझते हैं कि राजनीतिक दृष्टि से भारत के व्यापारी समूह बहुत बड़ी सीमा तक निष्ठावान थे।''[5] कहा गया है कि बंबई के व्यापारी समूहों में सौदागर जहाँ अधिक राष्ट्रवादी थे, वहीं उद्योगपति सरकार के परंपरागत सहयोगी थे।[6] लेकिन राष्ट्रवाद और कांग्रेस के प्रति भारतीय व्यापारियों के विभिन्न समूहों के राजनीतिक रवैयों में लंबे समय तक तालमेल और परिवर्तन भी दिखाई देता है। जहाँ तक उपनिवेशी अधिकारियों का सवाल है, भारतीय व्यापारी एक ही समय में 'सहयोग और विरोध' दोनों कर रहे थे और इसलिए उनके दृष्टिकोण का सुस्पष्ट 'सामान्यीकरण' करना संभव नहीं है।[7] दरअसल उद्योगपतियों की राजनीति, मुद्दों के जन्म लेने के समय उनके प्रति एक 'व्यवहारवादी दृष्टिकोण' से संचालित होती थी तथा वे (उद्योगपति) कांग्रेस और सरकार से 'समान दूरी' बनाए रखकर, इनमें से दोनों को दुश्मन बनाने या विमुख करने के डर से किसी की ओर भी झुकने से बचते रहते थे। इसलिए एक 'पूँजीवादी महारणनीति' की बात करना अतिशयोक्ति होगा।[8] इस प्रकार बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में भारतीय व्यापारी शायद ही एक 'निज–हेतु–वर्ग' (क्लास फॉर इटसेल्फ) थे। वे एक साथ नहीं चलते थे, उनके हित अलग–अलग थे, उनके विचारों में टकराव और रणनीतियों में अंतर्विरोध थे। इसलिए किसी सुसंगठित पूँजीवादी विचारधारा की या राष्ट्रवाद या साम्राज्यवाद के प्रति किसी राजनीतिक रणनीति की स्पष्ट पहचान करना संभव नहीं है।

प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान जहाँ उद्योगपति फले–फूले, वहीं विनिमय दरों के उतार–चढ़ाव और भारी करों के कारण सौदागरों को हानि पहुँची। दिसंबर 1920 में रुपया लुढ़क गया, जिसके कारण भारतीय आयातकों के लिए पिछले अनुबंधों पर लगभग 30 प्रतिशत के घाटे का खतरा पैदा हो गया, लेकिन इससे भारतीय निर्यातकों और मिल–मालिकों को लाभ मिला। युद्धकालीन भारी करों से सभी प्रभावित थे, लेकिन आयकर कानून में किए गए विशेष परिवर्तनों से देशी संयुक्त परिवारों के व्यवसायों को चोट पहुँची, क्योंकि उनकी लेखा–प्रणाली नए कानून के अंतर्गत आयकर के ब्यौरों को जमा करने की जरूरतों से मेल नहीं खाती थी।[9] यद्यपि सरकार की कर और मुद्रा–संबंधी नीतियों से मारवाड़ी और गुजराती व्यापारी दुःखी थे, किंतु उद्योगपति और बड़े व्यापारी इस बारे में कम चिंतित थे, क्योंकि सरकार भी उनका समर्थन पाने की जी–तोड़ कोशिशें कर रही थी। 1919 के मांटेग्यू–चेम्सफोर्ड सुधार ने हितों के प्रतिनिधित्व की व्यवस्था लागू की और इस प्रकार मजदूरों के साथ भारतीय उद्योग को भी केंद्रीय और प्रांतीय विधायिकाओं में प्रतिनिधित्व दिया[10] इसके अलावा, 1919 की वित्तीय स्वतंत्रता संविदा (फिस्कल आटोनॉमी कन्वेंशन) और 1922 के बाद 'संरक्षणमूलक भेदभाव' की एक नीति के वादे ने संरक्षणवादी शुल्कों (टैरिफ्स) के लागू किए जाने की आशा जगाई।[11] इसलिए जब गांधीवादी जन–राष्ट्रवाद का आरंभ हुआ, तो उसके प्रति भारत के व्यापार–जगत की मिली–जुली प्रतिक्रिया रही।

गांधीवादी राजनीति की ओर झुकाव

कुछ मारवाड़ी और गुजराती सौदागर और नए उद्यमी, जो बहुत अधिक धार्मिक थे, गांधीजी की ओर बहुत झुक गए क्योंकि उनमें उन्हें जैन और वैष्णव दर्शन का साझा आधार मिला। अहिंसा पर उनका बल किसी भी तरह के राजनीतिक गरमपंथ के मुकाबले आश्वस्त करता था और उनका 'ट्रस्टीशिप' का सिद्धांत संपत्ति को वैध ठहराता था। इस तरह गांधीवादी विचारधारा भले ही पूँजीवादी हितों पर आधारित न हो, उसकी कुछेक धारणाएँ इन सौदागरों और उद्यमियों के लिए आकर्षक थीं। इस कारण गांधी के रचनात्मक कार्यक्रम में उन्होंने सहर्ष योगदान किया तथा घनश्यामदास बिड़ला और जमनालाल बजाज जैसे कुछ बड़े उद्योगपति उनके घनिष्ठ सहयोगी बन गए।[12] यद्यपि अहमदाबाद के अंबालाल साराभाई जैसे मिल–मालिक 1918 की मजदूर–हड़ताल के दौरान गांधी की नेतृत्व–शैली से पूरी तरह खुश नहीं थे, फिर भी, भारतीय व्यापारियों को लगता था कि कांग्रेस को पूँजीवाद विरोधी बनने से केवल वे ही रोक सकते हैं।[13]

1919 में जब रोलट ऐक्ट–विरोधी सत्याग्रह शुरू हुआ तो उद्योगपति सशंकित रहे, लेकिन बंबई के व्यापारियों ने गांधी का जमकर समर्थन किया। अप्रैल में जब गांधी गिरफ्तार किए गए, तो बंबई में उद्योगों में हड़ताल रही। असहयोग आंदोलन शुरू हुआ तो कपास के सौदागरों ने बहिष्कार आंदोलन का फिर समर्थन किया और तिलक स्वराज्य कोष में जमकर दान दिया।[14] लेकिन दूसरी ओर अनेक उद्योगपति शांत रहे या जन–आंदोलन का सीधे–सीधे विरोध करते रहे। यही नहीं, बंबई में पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास और आर.डी. टाटा ने एक असहयोग–विरोधी समिति का गठन भी कर लिया।

व्यापारी समुदाय में विभाजन बंबई में सर्वाधिक स्पष्ट था, जहाँ इंडियन मर्चेंट्स चैंबर पर उद्योगपतियों के वर्चस्व को दो बार चुनौती मिली; पहली बार 1920 में कौंसिलों के बहिष्कार के प्रश्न पर और दूसरी बार 1921 में भारत आनेवाले प्रिंस ऑफ वेल्स को मानपत्र पेश करने के प्रश्न पर, जबकि कांग्रेस उसका बहिष्कार करना चाहती थी। स्पष्ट है कि सौदागर कांग्रेस के साथ थे और कांग्रेस को भी उनके समर्थन की जरूरत थी, क्योंकि उनके बिना बहिष्कार आंदोलन के सफल होने की संभावना कम ही थी।

लेकिन 1922 के बाद बिगड़ती आर्थिक दशाओं के कारण भारतीय व्यापारी समुदाय के प्रायः सभी हिस्से, सभी उद्योगपति, राष्ट्रवाद की ओर कुछ और आकर्षित हुए। युद्धकालीन तेजी 1921–22 में समाप्त हो गई और 1920 के पूरे दशक के दौरान मंदी छाई रही। माल बिक नहीं रहे थे और उनके बड़े–बड़े भंडार अनबिके मालों से भरे थे, तो उधर मजदूरी भी बढ़ रही थीं। आयातित धागों पर निर्भरता के कारण और लगभग उन्हीं दिनों भारतीय बाजारों में सस्ते जापानी मालों की बढ़ती प्रतियोगिता के कारण दाम और नीचे गिरने लगे, जिससे बंबई के सूती कपड़ा मिल–मालिकों की स्थिति बदतर हो गई। 1920 और 1923 के बीच सूती मिलों के शेयरों के दाम तेजी से लुढ़के[15] जिससे अनेक उद्योगपतियों को घबराहट होने लगी। कपास पर 3.5 प्रतिशत आबकारी (इक्साइज ड्यूटी) के उन्मूलन के लिए उद्योगपतियों ने विधायिका में स्वराज्यवादियों से हाथ मिला लिया। दिसंबर 1925 में आबकारी समाप्त कर दी गई, लेकिन सूती मिल–मालिकों की समस्या दूर नहीं हुई; 1926 में 11 मिलें बंद हो गईं और 13 प्रतिशत मजदूर बेरोजगार हो गए। जनवरी 1927 में 'भारतीय शुल्क बोर्ड' की एक बहुमत की रिपोर्ट ने धागे छोड़ सभी सूती मालों पर आयात शुल्क को 11 प्रतिशत से बढ़ाकर 15 प्रतिशत करने की सिफारिश की, लेकिन लंकाशायर के उग्र विरोध के कारण भारत सरकार ने इस निर्णय को स्थगित रखा।[16]

1920 के दशक के दौरान लंदन के दबाव के कारण न केवल भारत सरकार भारतीय उद्योगपतियों की आर्थिक समस्याओं के प्रति संवेदनहीन थी, बल्कि कलकत्ता और बंबई, दोनों जगह विदेशी पूँजी के साथ उनके संबंध भी धीरे–धीरे बिगड़ रहे थे। दरअसल 1919 के सुधारों के बाद से ही अपने नस्ली अलगाव और अपनी स्वतंत्रता पर अड़े हुए ब्रिटिश पूँजीपतियों के रवैये अपने भारतीय बंधुओं के प्रति कड़े होने लगे थे, क्योंकि वे भारतीय राजनीतिज्ञों को या उद्योगपतियों को कोई भी छूट देने के पक्ष में नहीं थे।

1921 में यूरोपीय व्यापारी संगठनों ने 'एसोसिएटेड चैंबर्स ऑफ कॉमर्स' नाम से एक शीर्ष सगठन का गठन किया, इसके जवाब में भारतीय पूंजीपतियों ने 1927 में अपना एक संगठन 'फिक्की' (एफ.आई.सी.सी.आई.) बनाया, जिसके अध्यक्ष पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास थे। अब पूँजीपतियों ने अपने आर्थिक हितों के लिए राजनीति में घुसकर सक्रिय भूमिका निभाने का फैसला किया। फिक्की के दूसरे अधिवेशन (1928) में अध्यक्ष पुरुषोत्तमदास ने घोषणा की कि, ''हम अब अपनी राजनीति को अर्थनीति से अलग नहीं रख सकते।.....भारतीय वाणिज्य एवं उद्योग राष्ट्रीय आंदोलन से जुड़े हुए हैं। राष्ट्रीय आंदोलन जितना विकसित और मजबूत होगा, उसी के अनुपात में भारतीय वाणिज्य और व्यापार भी विकसित और मजबूत होगा।'' बाद में 1930 में घनश्यामदास बिड़ला ने भी यही बात दोहराई। अब धीरे–धीरे भारतीय पूँजीपतियों ने अर्थव्यवस्था के हर क्षेत्र में साम्राज्यवादी नीतियों का विरोध करना शुरू कर दिया, यहाँ तक कि असमान उत्पादकता वाले देशों के बीच व्यापार के बारे में विनिमय असंतुलन बात भी उठाई।

इस चरण में कई कारणों से कांग्रेस और व्यापारियों की निकटता बढ़ी। एक, 1929 की भयंकर आर्थिक मंदी ने जब भारत का दरवाजा खटखटाया, तो ब्रिटिश सरकार ने अपनी खराब वित्तीय स्थिति को सुधारने के

लिए मार्च 1930 में कपास संरक्षण कानून (कॉटन प्रोटेक्शन ऐक्ट) में कपास–संबधी कर 11 प्रतिशत से बढ़ाकर 15 प्रतिशत कर दिया, वह भी केवल गैर–ब्रिटिश मालों के लिए। साम्राज्यिक प्राथमिकता की इस व्यवस्था से भारतीय उद्योगपति नाराज हो गए और राष्ट्रवादियों ने उसका व्यापक विरोध किया; बिड़ला व ठाकुरदास समेत कई ने तो विधायिका से ही त्यागपत्र दे दिया। दूसरे, सरकार ने मनमाने ढंग से रुपए और स्टर्लिंग की विनिमय दर को 1 शिलिंग 6 पेंस पर तय कर दिया, जिसकी सिफारिश 1926 के हिल्टन–यंग आयोग ने की थी। यह ऊँची दर भारतीय आयातकों के विरुद्ध और भारत को निर्यात करने वाले अंग्रेजों के पक्ष में थी। तीसरे, सितंबर 1931 में ब्रिटेन स्वर्णमान (गोल्ड स्टैंडर्ड) से अलग हो गया, लेकिन रुपया 1 शिलिंग 6 पेंस की दर से स्टर्लिंग से ही बँधा रहा। इससे बाहर जानेवाले सोने से ब्रिटेन को मदद मिली, लेकिन भारतीय हितों को कोई लाभ नहीं हुआ। व्यापारी समूह भारत की आर्थिक बहाली के लिए 1 शिलिंग 4 पेंस की कम दर की माँग कर रहे थे और 1926 में गांधी और पटेल के आशीर्वाद से बंबई में एक मुद्रा लीग का गठन हुआ था। इस प्रकार, मुद्रा–संबंधी प्रश्न सरकार के विरुद्ध व्यापारियों और कांग्रेस को एक मंच पर और भी निकट ला रही थी।

पूँजीपति वर्ग की आशंका

किंतु साम्राज्यवाद–विरोधी संघर्ष के लिए कौन–सा रास्ता अपनाया जाए, इस सवाल पर पूँजीपतियों की राय अलग–अलग थी। इसके पहले व्यापारी समूह संविधानवाद के और दबाव समूह की राजनीति के पक्ष में थे और यही कारण है कि 1920–21 के असहयोग आंदोलन से उन्होंने दूरी बनाए रखी थी। लेकिन कांग्रेस जब संविधानवाद की ओर पलटी, तो भारतीय उद्योगों के प्रतिनिधि भी स्वराज्यवादियों के और निकट आए और विधायिका में विभिन्न राष्ट्रीय आर्थिक प्रश्नों पर उनसे सहयोग करने लगे, जैसे सरकार की खरीद–नीति में संशोधन, कपास पर आबकारी की समाप्ति, जापानी प्रतियोगिता से निपटने के लिए सूती मालों पर आयात–शुल्क में वृद्धि, साम्राज्यिक प्राथमिकता और मुद्रा–नीति के विरोध जैसे सवालों पर। व्यापारियों ने गांधी के रचनात्मक कार्यक्रमों और स्वराज्यवादियों के अभियान कोषों में भी जमकर दान दिए।[17] फिर भी, गांधीवादी कांग्रेस के नेतृत्व में आंदोलनों की राजनीति से अपनी किस्मत जोड़ने के बारे में कई पूँजीपति सशंकित थे।

यद्यपि 1929 की मंदी ने भारतीय व्यापारियों की हालत खराब कर रखी थी और सविनय अवज्ञा आंदोलन में भागीदारी के पक्ष में उसने एक तरह की 'जनमत की लहर' पैदा कर दी थी[18], फिर भी, यह बहाव किसी भी तरह सीधा–सादा या जटिलताओं से मुक्त नहीं था। कई पूँजीपति आंदोलनों की राजनीति अभी भी भारी जोखिम का काम मानते थे, नागरिक असंतोष और बोल्शेविकवाद के लिए एक उपजाऊ जमीन समझते थे; जबकि कुछ दूसरे लोग समझते थे कि एक संवेदनहीन सरकार से रियायतें लेने का यह अंतिम अवसर है। पूँजीपति तब बहुत खुश हुए जब नवंबर 1929 में लॉर्ड इरविन ने एक गोलमेज सम्मेलन के प्रस्ताव की घोषणा की, जिससे भारत की समस्याओं का एक संवैधानिक समाधान निकलने की आशा थी। लेकिन उनकी यह आशा शीघ्र ही कांग्रेस की हठधर्मिता के कारण चकनाचूर हो गई। जब दिसंबर 1929 में कांग्रेस ने लाहौर अधिवेशन में 'पूर्ण स्वराज्य' का प्रस्ताव पारित किया, तो व्यापारी समूहों के कान खड़े हो गए। प्रस्ताव में एक प्रावधान कर्जों के रद्द किए जाने के बारे में था और यह प्रावधान व्यापारिक समूहों को कतई पसंद नहीं था। 1928 और 1929 में गिरनी कामगार यूनियन जैसी ट्रेड यूनियनों के नेतृत्व में, जो कम्युनिस्ट प्रभाव में अधिकाधिक आती जा रही थीं, अनेक हड़तालें हुईं। फिर भी, भारतीय पूँजीपति साम्यवाद के डर से और मजदूरों में जारी असंतोष के खतरों के कारण साम्राज्यवाद के शरणागत नहीं हुए और कांग्रेस के साथ बने रहे। घनश्यामदास बिड़ला का स्पष्ट कहना था, ''भारतीय पूँजीपति की मुक्ति प्रतिक्रियावादी ताकतों से हाथ मिलाने में नहीं है। पूँजीपति वर्ग का भला इसी में है कि वह संवैधानिक तरीके से आजादी के लिए संघर्ष करने वालों (दकियानूस राष्ट्रवादी खेमे) का हाथ मजबूत करे।'' इसी प्रकार 1928 में जब सरकार ने कम्युनिस्टों के दमन के लिए सार्वजनिक सुरक्षा विधेयक (पब्लिक सेफ्टी बिल) तैयार किया था तो पूँजीपतियों ने उसका विरोध किया था। पूँजीपति वर्ग का कहना था कि इस कानून के माध्यम से सरकार राष्ट्रीय आंदोलन का दमन करेगी।[19]

इस प्रकार 1930 के आरंभ तक विभिन्न कारणों से, भारतीय व्यापार–जगत के प्रायः सभी हिस्से कांग्रेस के साथ आ चुके थे। उधर कांग्रेस भी उनकी स्थिति और हितों के प्रति संवेदनशील थी। यही कारण है कि गांधी ने जब लॉर्ड इरविन के नाम ग्यारह सूत्रीय चेतावनी की घोषणा की, तो उसमें खास पूँजीपतियों की तीन माँगे थीं, जैसे 1 शिलिंग 4 पेंस की रुपया–स्टर्लिंग विनिमय दर का अनुमोदन, सूती उद्योग के लिए संरक्षण और भारतीय कंपनियों के लिए तटीय जहाजरानी का आरक्षण, लेकिन जब सविनय अवज्ञा आंदोलन शुरू हुआ, तो व्यापार जगत की प्रतिक्रिया एकबार फिर मिली–जुली रही। व्यापारी और सौदागर अधिक उत्साही रहे; उन्होंने धन दिए और बहिष्कार आंदोलन में भाग लिए। दूसरी ओर, मिल–मालिक परेशान रहे और उनका ठोस समर्थन भी कम ही मिला, जबकि बंबई के टाटा जैसे उद्योगपति, जो सरकारी आदेशों पर निर्भर थे, शंकाग्रस्त रहे। चूंकि पूर्ण तटस्थता आत्मघाती हो सकती थी, इसलिए फिक्की ने आंदोलन के सिद्धांतों का समर्थन किया और पुलिस–ज्यादतियों की निंदा की।

सविनय अवज्ञा के प्रति मिल–मालिकों में जो भी उत्साह–भाव था, वह सितंबर 1930 तक स्पष्ट तौर पर समाप्त हो चुका था। दरअसल पूँजीपति वर्ग सत्ता के खिलाफ लंबे समय तक आक्रामक आंदोलन को समर्थन देने में हिचकिचाता था, क्योंकि इससे उसकी रोजमर्रा की व्यापारिक गतिविधियाँ प्रभावित होती थीं और उसे लगता था कि आंदोलन का यह रूख उसके खुद के वर्गीय अस्तित्व के लिए खतरा है। लालाजी नारायनजी ने मार्च 1930 में ही पुरुषोत्तमदास को सजग किया था कि, ''इससे निजी संपत्ति को ही खतरा पैदा हो जाएगा और इस आंदोलन से व्यवस्था के प्रति असम्मान का जो भाव पैदा होगा, उसके नतीजे बहुत बुरे होंगे।'' वास्तव में बढ़ते नागरिक असंतोष के कारण बड़े व्यापारियों के मन में सामाजिक क्रांति का आतंक पैदा हो गया था। अब वे लोग स्पष्ट तौर पर संविधानवाद की ओर लौटना चाहते थे। यद्यपि गांधीजी ने अनेक दूसरे कारणों से इरविन के साथ समझौते पर हस्ताक्षर किए, किंतु कुछ इतिहासकारों का दावा है कि उद्योगपतियों का दबाव निश्चित ही इन कारणों में से एक था, और वह भी एक महत्त्वपूर्ण कारण था।

फरवरी 1931 में, यानी मार्च में गांधी–इर्विन समझौते पर हस्ताक्षर होने से ठीक पहले, भारत सरकार ने तैयार सूती कपड़ों पर 5 प्रतिशत शुल्क बढ़ाकर सूती मिल–मालिकों को एक बड़ी रियायत दी और वह भी इस बार लंकाशायर को प्राथमिकता दिए बिना।[20] लेकिन इसका अर्थ यह नहीं था कि व्यापार जगत के नेता बिक गए। दूसरे गोलमेज सम्मेलन में, जहाँ कांग्रेस का प्रतिनिधित्व गांधी और फिक्की का प्रतिनिधित्व बिड़ला और ठाकुरदास कर रहे थे, आर्थिक विषयों पर सभी वार्ताओं के दौरान फिक्की ने पक्के तौर पर गांधी के विचारों का पालन किया।[21] लेकिन लंदन में संवैधानिक वार्ताओं के विफल होने के बाद भी वह (फिक्की) आंदोलनों की ओर वापस नहीं लौटना चाहती थी। यही कारण था कि कांग्रेस ने जब जनवरी 1932 में दूसरे सविनय अवज्ञा आंदोलन का आरंभ किया, तो उसे उद्योग जगत का समर्थन स्पष्ट रूप से नहीं मिल सका। इस बार राजनीतिक दबाव के कारण सारे बड़े व्यापारी तीन गुटों में बँट गएः अहमदाबाद के मिल–मालिकों ने इस आंदोलन का समर्थन किया, जबकि बंबई के मिल–मालिक, कलकत्ता और दक्षिण भारत की कुछ लॉबियों के साथ इसका विरोध कर रहे थे; बिड़ला और ठाकुरदास की तरह फिक्की के कुछ प्रमुख नेता लगातार ढुलमुल बने रहे।

सरकार ने 1932 में ओटावा में एक साम्राज्यिक आर्थिक सम्मेलन की घोषणा की। इसका उद्देश्य साम्राज्य में विभिन्न उद्योगों के बीच और उनके अंदर उत्पादन में एक नए विशेषीकरण की व्यवस्था करके साम्राज्यिक आर्थिक सहयोग को बढ़ावा देना था।[22] आरंभ में फिक्की के नेता इस प्रश्न पर सरकार से सहयोग करने के लिए बड़े उत्साहित थे, लेकिन जब वायसरॉय विलिंगडन ने भारत से फिक्की नेताओं के बजाय अपने वफादार और दूसरे दर्जे के औद्योगिक नेताओं को भेज दिया, तो मामला बिगड़ गया। यद्यपि अगस्त 1932 के ओटावा समझौते ने भारतीय उद्योग को कुछ वास्तविक लाभ देने का वादा किया, लेकिन फिक्की और राष्ट्रवादियों ने शत्रुतापूर्ण प्रतिक्रिया के साथ उसका स्वागत किया।

वास्तव में 1930 के दशक में भारत के बडे व्यापारियों की राजनीतिक सोच साम्राज्य की इच्छा और राष्ट्रवाद के सवाल पर स्पष्ट रूप से बँटी हुई थी। बंबई के बड़े व्यापारी ब्रिटिश पूँजी के प्रति कुछ ज्यादा ही

समझौते का रवैया अपनाने लगे थे और वे गैर–ब्रिटिश मालों के मुकाबले के लिए ब्रिटिश कंपनियों से सहयोग को प्राथमिकता देते थे। श्रम नीति के प्रश्न पर टाटा और मोदी जैसे नेता तो विदेशी पूँजी से भी सहयोग करने को तैयार थे और उन्होंने 1933 में 'इंप्लॉयर्स फेडरेशन ऑफ इंडिया' का गठन भी कर लिया था। लेकिन यह प्रयोग बहुत आगे नहीं बढ़ सका, क्योंकि भारत में रह रहे अंग्रेज व्यापारी अपने भारतीय समकक्षों से सहयोग करने के प्रति कम उत्साहित थे।[23] मोदीजी के नेतृत्व में बंबई के सूती मिल–मालिकों ने अहमदाबाद के मिल–मालिकों के विरोध के बावजूद अक्टूबर 1933 में 'लीस–मोदी' समझौते पर हस्ताक्षर किए। इस समझौते की राष्ट्रवादियों ने और बंबई के बड़े घरानों को छोड़कर सभी व्यापारी संगठनों ने निंदा की। इससे व्यापारी समुदाय में दरार और बढ़ने के साथ यह बात भी स्पष्ट हो गई कि इन व्यापारी समूहों के पास किसी सरकारी नीति को बदलवाने की शक्ति भी शायद नहीं थी। यह बात तब और स्पष्ट हो गई जब रिजर्व बैंक विधेयक पारित हुआ और व्यापार जगत के प्रतिरोध के बावजूद 1934 में चीनी पर आबकारी लगा दी गई। इन्हीं कारणों से पूँजीपतियों का एक वर्ग कांग्रेस के टकरावावादी रवैये और उसकी आंदोलनों की राजनीति के बावजूद, उसके साथ संबंध बनाए रखने को विवश था। गांधीजी ने अप्रैल 1934 में जब सविनय अवज्ञा आंदोलन को औपचारिक रूप से स्थगित किया, तो भारतीय व्यापार जगत ने इस निर्णय का स्वागत किया। भारतीय राजनीति में संविधानवाद की वापसी उसके लिए राहत का कारण थी।

सरकार ने वफादारी के पुरस्कार के रूप में टिस्को (टाटा आयरन एंड स्टील कंपनी) के हित में असेंबली में 'इस्पात संरक्षण विधेयक' (स्टील प्रोटेक्शन बिल) पारित किया और हिंद–जापान समझौते के द्वारा बंबई के कपड़ा उद्योग को लाभ पहुँचाया। इस समझौते में भारत में जापानी मालों की बिक्री के लिए कोटे की व्यवस्था थी। लेकिन जिन लोगों ने कांग्रेस का साथ दिया था, वे जवाहरलाल नेहरू, सुभाषचंद्र बोस और जयप्रकाश नारायण के नेतृत्व में समाजवाद के बढ़ते प्रभाव के कारण बौखलाए हुए थे। लेकिन इस बार भी लाल खौफ के कारण पूँजीपति वर्ग ने साम्राज्यवाद का हाथ नहीं थामा। समाजवाद पर अंकुश लगाने के लिए पूँजीपति वर्ग ने एक बहुमुखी रणनीति अपनाई और तय किया कि कांग्रेस के दक्षिणपंथियों– 'वल्लभभाई, राजाजी और राजेंद्र बाबू' को संरक्षण दिया जाए, जो बिड़ला के शब्दों में, 'साम्यवाद और समाजवाद से लड़ रहे थे और गांधी के पीछे पूरी शक्ति लगा दी जाए। गांधीवादी भी कांग्रेस पर फिर से नियंत्रण प्राप्त करने के लिए पूँजीपतियों का समर्थन और उनसे वित्तीय सहायता पाने के लिए बेचैन थे। इस चरण में पूँजीपतियों का मुख्य स्वार्थ यह था कि कांग्रेस को संवैधानिक राजनीति के दायरे में रखा जाए और उसके समाजवादी पंख कतर दिए जाएं। इसके लिए वे कांग्रेस की अंदरूनी राजनीति में दखल देने तक के लिए तैयार थे। 1936 के 'बंबई घोषणापत्र' ने, जिस पर बंबई के इक्कीस पूँजीपतियों के हस्ताक्षर थे, नेहरू के समाजवादी आदर्शों के प्रचार की खुली भर्त्सना की और इस प्रचार को निजी संपत्ति तथा देश की शांति और समृद्धि के लिए घातक करार दिया। यद्यपि उसे व्यापार जगत से कोई खास समर्थन नहीं मिला, लेकिन उसने कांग्रेस के अंदर भूलाभाई देसाई और गोविंदवल्लभ पंत जैसे नरमपंथियों को अवश्य मजबूत किया, जिन्होंने नेहरू पर दबाव डाला कि वे अपने समाजवदी उद्‌गारों को थोड़ा नरम बनाएं।

1937 के चुनावों में भाग लेने और उसके बाद पद स्वीकार करने के कांग्रेस के निर्णय ने पूँजीपतियों को उसके और करीब खींचा। बराबर बिगड़ती आर्थिक दशाओं के संदर्भ में मोदी जैसे शंकालु भी राष्ट्रवादियों के और निकट आ गए। संभवतः व्यापारिक पूँजी एक बार फिर 1937 के चुनावों में कांग्रेस की शानदार जीत का एक प्रमुख कारण रही, किंतु पार्टी पूँजीपतियों के वर्चस्व से अभी भी बहुत दूर थी। वास्तव में जब कांग्रेस ने आठ प्रांतों में मंत्रिमंडल बनाए, तो श्रम (मजदूर) और पूँजी (व्यापारी) दोनों ने खुशियाँ मनाई, इसलिए पार्टी को इन दोनों के परस्पर–विरोधी हितों के बीच बराबर संतुलन बनाए रखना पड़ा। जब कांग्रेसी शासन वाले प्रांतों, खासकर मद्रास और संयुक्त प्रांत में ट्रेड यूनियन गतिविधियों और श्रमिक असंतोषों में वृद्धि हुई, तो कांग्रेस मंत्रिमंडलों ने अपने चुनावी वादे मुताबिक श्रमिक–कल्याण कार्यक्रम लागू करने के लिए अनेक प्रस्ताव पारित किए। इससे पूँजीपति निश्चित रूप से असंतुष्ट हुए, किंतु जब प्रांतीय सरकारों ने अपनी वित्तीय जरूरतों को पूरा करने के लिए संपत्ति–कर और विक्रय–कर जैसे करों को बढ़ा दिया, तो व्यापारिक घराने एक साथ हो गए और कांग्रेस हाईकमान चिंतित हो उठा। फलतः कांग्रेस ने अपनी श्रम–नीति में परिवर्तन कर पूँजीवादी हितों को तुष्ट करने का प्रयास किया, जिसकी चरम अभिव्यक्ति नवंबर 1938 में बंबई के व्यापारिक विवाद कानून (बॉम्बे ट्रेड्स

डिस्प्यूट्स ऐक्ट) के रूप में हुई। इसका उद्देश्य हड़ताल और तालाबंदी, दोनों पर रोक लगाना था। कांग्रेस की इस नई श्रम–विरोधी नीति से पूँजीपतियों का डर दूर हो गया और जवाहरलाल नेहरू की समाजवादी आर्थिक नियोजन की प्रक्रिया में उद्योग जगत के कुछ नेताओं ने सक्रिय रूप से भाग लिया। यही नहीं, जब 1938 में सुभाषचंद्र बोस की अध्यक्षता में कांग्रेस ने अपनी पहली राष्ट्रीय योजना समिति का गठन किया, तो उसमें ए.डी. श्रॉफ और अंबालाल साराभाई के साथ पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास और बालचंद हीराचंद भी शामिल हुए, जिन्होंने 1936 के उस 'बंबई घोषणापत्र' पर हस्ताक्षर किए थे, जिसमें नेहरू के समाजवादी आदर्शों की निंदा की गई थी। इसके बावजूद पूँजीपतियों के संबंध में कोई सामान्य निष्कर्ष निकालना संभव नहीं है क्योंकि संयुक्त प्रांत और मद्रास के कुछ उद्योगपति अभी भी कांग्रेस के प्रति शंकाग्रस्त थे, जबकि मुस्लिम उद्योगपति कुल मिलाकर उससे विमुख ही रहे।[24]

वास्तव में भारतीय पूँजीपतियों ने कांग्रेस के साथ एक रणनीतिक संबंध बनाए रखा। वे राष्ट्रवाद के विरोधी नहीं थे, लेकिन वे संविधानवाद को पसंद करते थे तथा विद्रोहों और क्रांतियों से डरते थे। 'भारत छोड़ो' आंदोलन के आरंभ से ठीक चार दिन पहले 5 अगस्त 1942 को बंबई के ठाकुरदास, जे.आर.डी. टाटा और बिड़ला ने वायसरॉय को पत्र लिखा कि वर्तमान संकट से उबरने और एक नए सविनय अवज्ञा आंदोलन से बचने का एक मात्र तरीका यही है कि भारत को राजनीतिक स्वतंत्रता प्रदान कर दी जाए। लेकिन जब स्वतंत्रता की माँग के साथ 'भारत छोड़ो' आंदोलन सचमुच शुरू हो गया, तो उसे समर्थन देने में वे काफी झिझकते रहे और उन्होंने वायसरॉय को उसका विरोध करने का आश्वासन दिया। तूफान के गुजरने के बाद वे फिर कांग्रेस की ओर झुक गए और फिर जब सत्ता के हस्तांतरण की बातचीत शुरू हुई, तो सहयोग के लिए और भी तत्पर दिखाई देने लगे।

'भारत छोड़ो' आंदोलन के बाद कांग्रेस एक रूढ़िवादी नेतृत्व के अधीन आ गई, जो पूँजीपतियों से सहयोग करना और पूरी तरह संविधानवाद के दायरे में ही रहना चाहता था। समय के साथ भारतीय पूँजीपतियों ने भी यह अनुभव किया कि यदि बड़े पैमाने पर सामाजिक–आर्थिक उथल–पुथल को रोकना है, तो निरंतर सुधार कार्यक्रमों को लागू करना होगा। इन्हीं सुधार–कार्यक्रमों को लागू करने के उद्देश्य से पूँजीपतियों ने 1942 में 'आर्थिक विकास समिति' का गठन किया। भारतीय व्यापार जगत की इस समिति ने 1944 में प्रसिद्ध 'बंबई योजना' तैयार किया, जिसका उद्देश्य समाजवादी आंदोलन की उन माँगों को स्वीकार करना था, जो पूँजीवाद के अस्तित्व के लिए खतरा नहीं थीं।

इस तरह भारतीय पूँजीपति वर्ग समाजवाद–विरोधी और बुर्जुआ तो था, पर वह साम्राज्यवाद का समर्थक नहीं था। पूँजीपतियों द्वारा संवैधानिक गतिविधियों, जैसे विधानसभा या वायसरॉय की कार्यकारिणी परिषद् में हिस्सेदारी का मतलब यह नहीं था कि भारतीय पूँजीपति वर्ग साम्राज्यवाद का पिट्ठू हो गया था या उसके सामने आत्मसमर्पण कर चुका था। पूँजीपति वर्ग के लिए ये सब तरीके साम्राज्यवादी सत्ता के प्रति विरोध जताने के लिए महज साधन थे। जहाँ तक राष्ट्रीय आंदोलन के दौरान भारतीय पूँजीपतियों और कांग्रेस के आपसी संबंधों का सवाल है, भारतीय पूँजीपतियों और कांग्रेस का आपसी संबंध रणनीतिक, मुद्दों पर आधारित, बल्कि व्यवहारमुखी भी रहा। राष्ट्रवाद से पूँजीपतियों की प्रतिबद्धता निश्चित ही व्यापारिक हितों से ऊपर न थी, और कांग्रेस को समर्थन तो पूरी तरह सशर्त था, किंतु वे लोग न तो अंग्रेजों के वफादार थे, न देशद्रोही। पूँजीपति वर्ग को कांग्रेस की ताकत और विभिन्न वर्गों के साथ उसके संबंधों का उसे पूरा एहसास था, इसलिए शंकाओं के बावजूद वे कांग्रेस के कार्यक्रम के अनेक पक्षों से सहमत थे।

संदर्भ–संकेत

1. द्विजेंद्र त्रिपाठी, 1991, कांग्रेस एंड दि इंडस्ट्रियलिस्ट (1885–1947), इन बिजनेस एंड पॉलिटिक्स इन इंडिया : ए हिस्टॉरिकल पर्सपेक्टिव, संपा. डी. त्रिपाठी, 86–123, पृष्ठ 87।

2. आदित्य मुखर्जी 1986, दि इंडियन कैपिटलिस्ट क्लास : आस्पेक्ट्स ऑफ इट्स इकोनॉमिक, पॉलिटिकल एंड आइडियोलॉजिकल डवलपमेंट इन दि कॉलोनियल पीरियड, 1927–47, इन सिटुएटिंग इंडियन हिस्ट्री फॉर सर्वपल्ली गोपाल, संपा. एस. भट्टाचार्य एंड आर. थापर, 239–87, पृष्ठ 245–46।
3. बिपिन चन्द्र व अन्य, 1995, भारत का स्वतंत्रता संघर्ष, पृष्ठ 300।
4. बिपिन चन्द्र 1979, नेशनलिज्म एंड कॉलोनियलिज्म इन मॉडर्न इंडिया, पृष्ठ 145।
5. बसुदेव चटर्जी, 1992, ट्रेड, टैरिफ एंड एंपायर : लंकाशायर एंड ब्रिटिश पॉलिसी इन इंडिया, 1919–1939, पृष्ठ 319।
6. ए.डी.डी. गॉर्डन, 1978, बिजनेसमैन एंड पॉलिटिक्स : राइजिंग नेशनलिज्म एंड ए मॉडर्नाइजिंग इकोनॉमी इन बॉम्बे, 1918–1933, पृष्ठ 156।
7. रजत रे, 1979, इंडस्ट्रियलाइजेशन इन इंडियाः ग्रोथ एंड कॉन्फलिक्ट इन दि प्राइवेट कॉरपोरेट सेक्टर, 1914–47, पृष्ठ 292।
8. द्विजेंद्र त्रिपाठी, 1991, कांग्रेस एंड दि इंडस्ट्रियलिस्ट (1885–1947), इन बिजनेस एंड पॉलिटिक्स इन इंडियाः ए हिस्टॉरिकल पर्सपेक्टिव, संपा. डी. त्रिपाठी, 86–123, पृष्ठ 118।
9. ए.डी.डी. गॉर्डन, 1978, बिजनेसमैन एंड पॉलिटिक्सः राइजिंग नेशनलिज्म एंड ए मॉडर्नाइजिंग इकोनॉमी इन बॉम्बे, 1918–1933, पृष्ठ 161–66।
10. एस. भट्टाचार्य, 1986, दि कॉलोनियल स्टेट, कैपिटल एंड लेबर, बॉम्बे, 1919–1931, इन सिटुएटिंग इंडियन हिस्ट्री फॉर सर्वपल्ली गोपाल, संपा. एस. भट्टाचार्य एंड आर. थापर, 171–93।
11. बसुदेव चटर्जी, 1992, ट्रेड, टैरिफ एंड एंपायरः लंकाशायर एंड ब्रिटिश पॉलिसी इन इंडिया, 1919–1939।
12. रजत रे, 1979, इंडस्ट्रियलाइजेशन इन इंडियाः ग्रोथ एंड कांफ्लिक्ट इन दि प्राइवेट कॉरपोरेट सेक्टर, 1914–47, पृष्ठ 295–97।
13. द्विजेंद्र त्रिपाठी, 1991, कांग्रेस एंड दि इंडस्ट्रियलिस्ट (1885–1947), इन बिजनेस एंड पॉलिटिक्स इन इंडियाः ए हिस्टॉरिकल पर्सपेक्टिव, संपा. डी. त्रिपाठी, 86–123, पृष्ठ 94।
14. एस. भट्टाचार्य, 1976, कॉटन मिल्स एंड स्पनिंग हवील्सः स्वदेशी एंड दि इंडियन कैपिटलिस्ट क्लास, 1920–22, इकोनॉमिक एंड पॉलिटिकल वीकली, 20 नवंबर, 11(47): 1828–32।
15. ए.डी.डी. गॉर्डन, 1978, बिजनेसमैन एंड पॉलिटिक्स : राइजिंग नेशनलिज्म एंड ए मॉडर्नाइजिंग इकोनॉमी इन बॉम्बे, 1918–1933, पृष्ठ 176।
16. बसुदेव चटर्जी, 1992, ट्रेड, टैरिफ एंड एंपायर : लंकाशायर एंड ब्रिटिश पॉलिसी इन इंडिया, 1919–1939, पृष्ठ 274, 281–87।
17. द्विजेंद्र त्रिपाठी, 1991, कांग्रेस एंड दि इंडस्ट्रियलिस्ट (1885–1947), इन बिजनेस एंड पॉलिटिक्स इन इंडिया : ए हिस्टॉरिकल पर्सपेक्टिव, संपा. डी. त्रिपाठी, 86–123, पृष्ठ 98–102।
18. सुमित सरकार, 1985, ए क्रेटिक ऑफ कॉलोनियल इंडिया, पृष्ठ 95।
19. बिपिन चन्द्र व अन्य, 1995, भारत का स्वतंत्रता संघर्ष, पृष्ठ 306।
20. सी. मार्कोवित्ज, 1985, इंडियन बिजनेस एंड नेशनल पॉलिटिक्स, 1931–1939, पृष्ठ 78।
21. द्विजेंद्र त्रिपाठी, 1991, कांग्रेस एंड दि इंडस्ट्रियलिस्ट (1885–1947), इन बिजनेस एंड पॉलिटिक्स इन इंडिया : ए हिस्टॉरिकल पर्सपेक्टिव, संपा. डी. त्रिपाठी, 86–123, पृष्ठ 109।
22. बसुदेव चटर्जी, 1992, ट्रेड, टैरिफ एंड एंपायर : लंकाशायर एंड ब्रिटिश पॉलिसी इन इंडिया, 1919–1939, पृष्ठ 369।
23. मारिया मिश्र, 1999, बिजनेस, रेस एंड पॉलिटिक्स इन ब्रिटिश इंडिया, सी. 1850–1960, पृष्ठ 172।
24. क्लाउद मार्कोवित्ज, 1985, इंडियन बिजनेस एंड नेशनल पॉलिटिक्स, 1931–1939, पृष्ठ 180–81।

●●●

माध्यमिक विद्यालयों में शैक्षिक समस्याएँ

डा0 मनीषा पाल

स्वतन्त्र भारत में माध्यमिक शिक्षा का विकास तीव्र गति से हुआ है किन्तु इस विकास का सम्बन्ध केवल उसकी संख्यात्मक वृद्धि से है, गुणात्मक उन्नति से नहीं। समय–समय किये जाने वाले प्रयासों के बावजूद न तो उसकी संरचना में कोई विशेष परविर्तन हुआ है और न ही उसकी उपयोगिता में वृद्धि, माध्यमिक शिक्षा हमारी शिक्षा व्यवस्था की अब भी सबसे निर्बल कड़ी है।

आज के युग में जब जीवन के प्रत्येक क्षेत्र विभिन्न समस्याओं से आक्रान्त रहता है। ऐसी दशा में शिक्षा जगत् में भी चाहे वह प्राथमिक हो, माध्यमिक हो या उच्च स्तर हो, यत्र–तत्र–सर्वत्र समस्याएँ विविध रूप–स्वरूप में दृष्टिगत होती ही हैं जो शैक्षिक विकास में अवरोध उत्पन्ना करती हैं यद्यपि प्राथमितक, माध्यतिक या उच्च स्तर के शैक्षिक जगत् की समस्याओं का रूप–स्वरूप और उनकी प्रकृति आदि में भारी अन्तर हो सकता है। विदित हो कि माध्यमिक शिक्षा के स्तर पर शिक्षार्थी प्रायः किशोरवय के होते हैं और किशोरमन संवेदनाओं की सुगुबुगाहट अधिक महसूस करता है। अतएव, माध्यमिक स्तर के विद्यार्थियों की समस्याओं का रूप–स्वरूप प्रायः अनूठे रूपाकार में प्रत्यक्ष होता है।

माध्यमिक शिक्षा–जगत् की समस्याओं के अध्ययन के लिए एक प्रयास के रूप में चयनित 5 प्रखण्ड में विभिन्न जातियों जैसे सामान्य, अन्य पिछड़ी जाति, अल्पसंख्यक वर्ग के छात्र–छात्राओं की 50 प्रतिशत से भी अधिक विद्यमान रहने वाली शैक्षिक समस्याओं का अध्ययन किया गया है। माध्यमिक विद्यालयों में अध्ययन कर रहे विभिन्न वर्गों के छात्रों ने शैक्षिक समस्याओं से सम्बन्धित प्रश्नों का जो उत्तर दिया उसके आधार पर समस्याओं की व्याख्या निम्नवत् है–

1. विद्यालय की दूरी आवागमन में बाधक

छात्र–छात्राओं से प्रध्न किया गया कि क्या विद्यालय दूर होने से उन्हें कठिनाई का सामना करना पड़ता है? इसके उत्तर में 60–80:, छात्रों (सामान्य वर्ग के 80:, पिछड़ी जाति के 73.68:, अनुसूचित जाति–जनजाति वर्ग के 75:, तथा अल्पसंख्यक वर्ग के 60:) ने विद्यालय से उनके घर की दूरी को समस्या माना। इस प्रश्न का सकारात्मक उत्तर सभी वर्ग की छात्राओं ने दिया।

एक अन्य प्रश्न 'क्या आपके विद्यालय में छात्रावास की सुविधा है?' के उत्तर में शत–प्रतिशत विद्यार्थियों ने बताया कि छात्रावास की सुविधा न होना शैक्षिक विकास में बाधक है।

प्रश्न कि 'क्या आपको विद्यालय जाने के लिए बस या रेल की सुविधा मिल जाती है?' के उत्तर में विद्यार्थियों ने जो सकारात्मक उत्तर दिए उनका प्रतिशत इस प्रकार है– सामान्य वर्ग 31.43, अन्य पिछड़ी जाति 15.79, अनुसूचित जाति 05.06 तथा अल्पसंख्यक 78.40।

प्रश्न के 'क्या आपको विद्यालय आने–जाने में किराए के रूप में अधिक धन खर्च करना होता है?' इसके उत्तर में सामान्य वर्ग के 62.86:, पिछड़ी जाति के 78.95:, अनु0जा0 के 71.05:, अल्पसंख्यक 64.70:, छात्रों ने सकारात्मक उत्तर देते हुए कहा कि घर से मिलने वाला अधिकांश धन उन्हें आवागमन–किराए के रूप में खर्च करना पड़ता है जिससे उनकी अन्य शैक्षिक समस्याएँ प्रभावित होकर अनसुलझी रह जाती है।

विद्यार्थियों से पूछा गया कि 'क्या उन्होंने पढ़ने के लिए शहर में मकान किराए पर लिया है?' इसके उत्तर में सामान्य वर्ग के 17.14:, पिछड़ी जाति के 08.34:, अनु0जा0 के 09.76:, अल्पसंख्यक 98.53:, ने पक्ष में उत्तर दिया।

अगले प्रश्न 'क्या विद्यालय आवागमन हेतु आपको बस, टैक्सी आदि मिलने में कठिनाई होती है?' के उत्तर में सामान्य वर्ग के 31.43:, पिछड़ी जाति के 63.16:, अनु0जा0 के 48.75:, अल्पसंख्यक 35.66:, ने सकारात्मक उत्तर दिया।

अन्य प्रश्न कि 'क्या आपको विद्यालय आने–जाने में चलने वाले वाहनों से किराए में छूट मिलती है?' के उत्तर में लगभग सभी वर्ग के छात्रों ने सकारात्मक उत्तर दिया। इस प्रश्नोत्तर के विवेचन से ज्ञात हुआ कि सभी वाहन चालक विद्यार्थियों को किराए में छूट नहीं देते हैं किन्तु जो छूट देते हैं वे सभी वर्ग के विद्यार्थियों के प्रति इस संदर्भ में एकसमान दृष्टिकोण रखते हैं।

इस प्रकार से छात्राओं से उपर्युक्त प्रश्न किए जाने पर ये तथ्य सामने आया ककि सभी वर्ग की छात्राओं (78.23: से 92.75:) को विद्यालय आने–जाने में किराए के रूप में अधिक धन व्यय करना पड़ता है जबकि खर्च के लिए उन्हें परिवार से अत्यंत सीमित धन मिलता है फलतः उनकी अन्य शैक्षिक समस्याएँ ज्यों की त्यों बनी रह जाती है। विद्यालय आवागमन के लिए किराए में मिलने वाली छूट केवल सामान्य वर्ग (46.55:) और अल्पसंख्यक वर्ग की (48.77:) ने स्वीकार की शेष सभी वर्ग की छात्राओं (32.82: से 37.32:) ने इससे इन्कार किया। निष्कर्षतः अन्य पिछड़ी जाति, अनु0जाति एवं जनजाति की छात्राओं को किराए के रूप में अधिक धन व्यय करना पड़ता है जो इनके शैक्षिक विकास में बाधक है।

यह प्रश्न करने पर कि 'क्या आपको विद्यालय आने–जाने के लिए कई घंटे वाहन की प्रतीक्षा करनी पड़ती है?' के पक्ष में उत्तर का प्रतिशत था, सामान्य वर्ग के 48.57, पिछड़ी जाति के 63.16, अनु0जा0 के 56.78, अल्पसंख्यक 45.73 जिसका आशय यह था कि पिछड़े वर्ग के विद्यार्थी आवागमन के साधनों पर अधिक निर्भर रहते हैं।

प्रश्न 'क्या विद्यालय की दूरी उनके निवासस्थान से अधिक होने के कारण विद्यालय आने–जाने में उन्हें असुविधाओं का सामना करना पड़ता है?' के उत्तर में सभी वर्गों के छात्रों (42.86: से 78.95:) ने यह स्वीकारा कि उन्हें असुविधाओं का सामना करना पड़ता है।

प्रश्न क्या 'विद्यालय आने–जाने में उन्हें जाड़ा, गर्मी, बरसात तीनों मौसमों मे कठिनाई होती है?' सभी वर्गों के छात्रों (42.86: से 78.95:) एवं छात्राओं (87.59: से 98.50:) ने उत्तर दिया कि विद्यालय दूर होने तथा पर्याप्त धन न होने से उन्हें जाड़ा, गर्मी, बरसात, तीनों मौसम में विशेषकर गर्मी में एवं वर्षा ऋतृ में बारिश होने पर उन्हें नियत समय पर विद्यालय पहुँचने में बहुत कठिनाईयों का सामना करना पड़ता है परिणामस्वरूप उनकी शैक्षिक प्रगति में बाधा उत्पन्न होती है। छात्रों ने कहा कि धनाभाव के कारण उन्हें विद्यालय साईकिल से या पैदल आने–जाने से आत्यधिक थकान का अनुभव होता है जो उनके अध्ययन में बाधा उत्पन्न करता हैं। छात्राओं का भी उत्तर था कि विद्यालय वे चाहे पैदल जाएँ या किसी वाहन से विद्यालय दूर होने से विद्यालय से वापसी पर उन्हें अत्यधिक थकान का अनुभव होता है जिससे घर पर अध्ययन कम ही हो पाता है।

सभी वर्ग की छात्राएँ चाहे वे शहरी क्षेत्रों/कस्बों से हों या ग्रामीण इलाकों से, स्वयं खाना बनाने के उपरान्त ही विद्यालय जाती हैं ऐसी दशा में विद्यालय के दूर होने से तथा मौसम आदि की कठिनाई के कारण वे सब प्रायः विलम्ब से ही विद्यालय पहुँचती हैं। सभी वर्ग की छात्राओं (51.34: से 67.19:) ने इसे गम्भीर समस्या माना है।

2. पारिवारिक आर्थिक स्थिति एवं तत्सम्बन्धी समस्याएँ

माध्यमिक विद्यालयों में अध्ययनरत वर्गों के विद्यार्थियों से पूछा गया कि 'क्या आपको अपनी शैक्षिक समस्याओं की पूर्ति के लिए अपने परिवार से पर्याप्त धन प्राप्त होता है? इसके उत्तर में सामान्य वर्ग एवं अल्पसंख्यक वर्ग के विद्यार्थियों को छोड़ कर अन्य सभी वर्गों के छात्रों ने नकरात्मक उत्तर दिया। छात्रों के उत्तरों का अवलोकन करने पर निष्कर्षित हुआ कि सामान्य वर्ग के विद्यार्थियों को परिवार से मिलने वाले धन का प्रतिशत 71.43ः है जबकि 28.57ः विद्यार्थियों ने धनाभाव को शैक्षिक विकास में बाधक बताया। अतः अल्पसंख्यक वर्ग एवं सामान्य वर्ग में अन्य वर्गों की अपेक्षा धनाभाव की समस्या कम है जबकि पिछडत्री जातियों (47.89ः), अनु0जा0 एवं जनजाति (62.50ः) ने बताया कि उन्हें अपनी शैक्षिक समस्याओं की पूर्ति के लिए उनके परिवार से पर्याप्त धन प्राप्त नहीं होता है।

सभी वर्गों के छात्रों ने एक अन्य प्रश्न के जो उत्तर दिए उससे ज्ञात हुआ कि अल्पसंख्यक एवं सामान्य वर्ग के छात्रों को छोड़कर अन्य सभी वर्गों के छात्र अपनी शैक्षिक समस्याओं (यथा पाठ्यपुस्तकों, कापी, पेन आदि की खरीदारी) की पूर्ति हेतु परिवार से पर्याप्त धन न मिलने के कारण चिन्तित रहते हैं जिससे वे शिक्षा के प्रति जागरूक रहने के बावजूद शैक्षिक प्रगति नहीं कर पाते हैं।

इस प्रश्न का उत्तर छात्राओं से मिलने पर यह तथ्य ज्ञात हुआ कि सामान्य एवं अल्पसंख्यक वर्ग की छात्राओं को छोड़कर शेष स्भी वर्ग की छात्राओं (28.39ः से 31.75ः) ने शिक्षा हेतु परिवार से अत्यंत सीमित धन का मिलना अत्यंत गम्भीर समस्या माना है। वर्तमान समय में महँगाई के कारण छात्राओं को अपनी शैक्षिक समस्याओं का निदान करने में और अधिक कठिनाई का सामना करना पड़ता है।

उपर्युक्त संदर्भ में अन्य प्रश्न करने पर छात्राओं के उत्तर से निष्कर्ष निकला कि एक तो अनुसूचित जाति एवं जनजाति की छात्राओं (64.53ः) की आर्थिक स्थिति उनके पड़ोसियों से अच्छी नहीं है, दूसरे इनकी एवं अन्य पिछड़े वर्ग की छात्राओं (32.76ः से 37.19ः) के अभिभावक उनकी शिक्षा के प्रति कम जागरूक हैं। दोनों ही कारणों से इन छात्राओं की शैक्षिक प्रगति बाधित होती है।

यह प्रश्न कि 'क्या आपके परिवार में वे सभी भौतिक सुख–सुविधाएँ हैं जिनसे अध्ययन में सहायता मिलती है?' अल्पसंख्यक एवं सामान्य वर्ग के छात्र–छात्राओं को छोड़ कर अन्य सभी वर्गों के छात्र–छात्राओं ने नकारात्मक उत्तर देते हुए बताया कि इसके कारण उन्हें अध्ययन में अनेक प्रकार की कठिनाईयों का सामना करना पड़ता है।

अग्रिम प्रश्न में छात्रों से पूछा गया कि 'क्या वे अपनी पाठ्यपुस्तकों को खरीदने में असमर्थता अनुभव करते हैं?' इस प्रश्न का सभी वर्गों के छात्र–छात्राओं ने लगभग एक समान सकारात्मक उत्तर दिया। धनााभव के कारण अनु0जा0जनजा0 की छात्राओं (62.17ः से 56.34ः) को पाठ्यक्रम सम्बन्धी पुस्तकों को खरीदने में कठिनाई होती है।

अगले प्रश्न में भी अनेक समस्याओं की चर्चा विद्यार्थियों से की गई जिसका उत्तर भी उपर्युक्त के समान ही प्राप्त हुआ। यह तथ्य भी सामने आया कि धनाभाव के कारण सभी वर्ग के विद्यार्थियों को विद्यालय आने–जाने में एवं शिक्षण–शुल्क जमा करने में कठिनाईयाँ अनुभव होती हैं किन्तु अनु0जा0 एवं जनजा0 के विद्यार्थी इन समस्याओं से अधिक त्रस्त दिखाई देते हैं।

3. ध्वनि एवं वातावरण से उत्पन्न समस्याएँ

आलोच्य परिप्रेक्ष्य में छात्रों से इस संदर्भ में कि 'क्या पास–पड़ोस में वाहनों के चलने से, जनरेटर के चलने से एवं धार्मिक स्थलों पर ध्वनि–विस्तारक यंत्र लगे होने से उनके पठन–पाठन में बाधा उत्पन्न होती है?' तीन प्रश्न पूछे गए। सभी वर्गों के छात्रों (51.43 से 63.94) एवं छात्राओं (58.46ः से 78.23ः) ने इनसे उत्पन्न वायु–प्रदूषण एंव ध्वनि–प्रदूषण को स्वीकार करते हुए लगभग एकसमान उत्तर दिए और पठन–पाठन की इन

बाधाओं को महत्वपूर्ण समस्याएँ मानते हुए इनके शीघ्र निराकरण की इच्छा व्यक्त की क्योंकि इससे उनके स्वास्थ्य पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है और उनकी अध्ययन की निरंतरता एवं एकाग्रता में बाधा पड़ती है।

इसी प्रकार एक अन्य प्रश्न कि 'आपके पड़ोस में कलह होने से आपके अध्ययन पर क्या प्रभाव पड़ता है?' सभी वर्ग के छात्र–छात्राओं ने स्वीकार किया कि इससे उनको मानसिक तनाव का सामना करता पड़ता है जिसका उनके अध्ययन पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। सभी ने यह माना कि इससे उनके मन में भी अशान्ति, भय व तनाव का प्रवेश हो जाता है और इससे उत्पन्न मानसिक तनाव के कारण उनके अध्ययन की एकाग्रता भंग होती है।

4. विद्यालयों में पाठ्यसामग्री की समुचित व्यवस्था तथा विद्यार्थियों मे अंग्रेजी भाषा का ज्ञान न होने से उत्पन्न कठिनाई

पाठ्यक्रम से सम्बन्धित पुस्तकों एवं उपकरणों की उपलब्धता के संदर्भ में पूछू गए प्रश्न के जो उत्तर प्राप्त हुए उससे ज्ञात हुआ कि लगभग सभी वर्ग के छात्र (27.00ः से 42.86ः) छात्राओं (56.13ः से 63.59ः) को पाठ्यक्रम सम्बन्धी पुस्तकें–उपकरण आदि प्राप्त न होने से अध्ययन में परेशानी होती है। इसके साथ ही प्रायोगिक विषयों के प्रायोगिक उपकरणों की अनुपलब्धता भी उनके उस विषय के समुचित अध्ययन में बाधक बनती है।

कक्षा में बैठने की समुचित व्यवस्था से सम्बन्धित प्रश्न के उत्तर ने सभी वर्गों के छात्रों (69.73ः से 78.76ः) ने माना कि कक्षा में बैठने की समुचित व्यवस्था न होने से उनके एकाग्रचित होने में दिक्कत होती है जिससे अध्ययन में बाधा आती है। छात्राओं ने कहा कि उन्हें प्रायः इधर–उधर बैठना पड़ता है जबकि कभी–कभी तो बैठने की समुचित जगह न होने के कारण उन्हें कक्षाध्ययन ही छोड़ने के लिए बाध्य होना पड़ता है। यह सभी वर्ग की छात्राओं, विशेषकर अनु0 जाति–जनजाति की छात्राओं (75.21ः), के लिए अत्यंत गम्भीर समस्या है जो उनकी शिक्षा–प्राप्ति में बाधक है।

इस प्रश्न कि 'क्या आपके विद्यालय में सम्बन्धित विषयों में प्रतियोगिताओं' का आयोजन किया जाता है और 'क्या आपके विद्यालय में बाहर से विद्वानों को बुलाकर व्याख्यान् कराया जाता है?' लगभग सभी वर्गों के छात्रों (क्रमशः 57.14ः से 63.79ः एवं 23.55ः से 31.67ः) ने स्वीकार किया कि इस प्राकर की प्रतियोगिताओं एवं विद्वानों के व्याख्यान् का आयोजन उनके विद्यालय में कम ही होता है।

अंग्रेजी भाषा सम्बन्धी प्रश्न के उत्तर से ज्ञात हुआ कि अधिकांश छात्र अपने सहपाठी से बात करने में अंग्रेजी भाषा का प्रयोग नहीं करते हैं। अंग्रेजी भाषा का प्रयोग न करने का कारण छात्रों को इसे समझने में होने वाली कठिनाई है। संदर्भगत अग्रिम प्रश्नों के उत्तर से ज्ञात हुआ कि परिवार मे अंग्रेजी भाषा का बोलचाल में प्रयोग न होने से सभी वर्गों के छात्र (26.46ः से 31.42ः) अंग्रेजी भाषा का प्रयोग सरलता से नहीं कर पाते हैं जिससे उन्हें विद्यालय के अंग्रेजीभाषी वातावरण एवं ऐसे सहपाठियों से सामजस्य बैठाने में अत्यन्त कठिनाई होती है। दूसरी और अंग्रेजी भाषा का ज्ञान होने पर भी घर–परिवार, पास–पड़ोस, समाज विद्यालय आदि में प्रायः अंग्रेजीभाषी वातावरण न होने से भी अंग्रेजी भाषा को बोलचल में व्यवहार में लाने में सामान्य वर्ग के छात्रों को छोड़ कर अन्य सभी वर्गों के छात्रों (59.71ः से 73.29ः) को परेशानी का सामना करता पड़ता है। जहाँ तक सामान्य वर्ग के छात्रों (54.29ः) की बात है उनके सामने भी अन्य वर्गों के समान समस्या है परन्तु वह कुछ कम है। यह प्रश्न पूछने पर कि 'क्या उनके पास अंग्रेजी भाषा का शब्दकोश है?' ज्ञात हुआ कि अंग्रेजी भाषा के शब्दकोश की उपलब्धता सभी वर्गों (49.05ः से 51.50ः) में लगभग एकसमान है। यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि लगभग 40 से ऊपर के छात्रों के पास अंग्रेजी भाषा का शब्दकोश है ही नहीं जिसके सहयोग से अंग्रेजी भाषा का ज्ञान सरलता से होता है।

उपर्युक्त संदर्भ में छात्राओं से किए गए प्रश्नोत्तर से निष्कर्षित हुआ कि मातृभाषा हिन्दी होने के कारण और अंग्रेजी भाषा बोलने के अवसर कम होने के कारण उन्हें अपने विचारों को अंग्रेजी भाषा में व्यक्त करने में

कठिनाई होती है। छात्राओं में अंग्रेजी भाषा को भली प्रकार समझने की भी भारी समस्या है जो अंग्रेजी भाषा का ज्ञान न होने के लते निरन्तर बनी रहती है। छात्राओं को अंग्रेजी भाषा की जानकारी करने के लिए बार–बार अंग्रेजी के शब्दकोश का प्रयोग करना पड़ता है। इस समस्या को अनु0 जाति–जनजा0 की छात्राएँ (29.17:) अधित महसूस करती हैं।

5. वर्तमान समय में विद्यालयों में व्याप्त अनुशासनहीनता एवं दूषित राजनीतिक वातावरण से उत्पन्न शैक्षिक समस्याएँ

उपर्युक्त संदर्भ में पूछे गए प्रश्नों के उत्तर से ज्ञात हुआ कि प्रायः छात्रों में गुटबन्दी एवं उससे उत्पन्न कलह एवं विवाद के कारण विद्यालय का शैक्षिक वातावरण दूषित रहा है जिससे छात्र–छात्राओं को शैक्षिक उपलब्धियाँ प्राप्त करने में कठिनाईयों का सामना करना पड़ता है। विद्यालय में मार–पीट, तोड़–फोड़ आदि अध्ययन–अध्यापन में बाधा उत्पन्न करते हैं। लगभग सभी वर्गों के छात्रों (49.37: से 60.00:) एवं छात्राओं (52.05: से 74.18:) ने इसे गम्भीर समस्या माना। छात्राओं का मानना है कि कलह एवं विवादपूर्ण वातावरण से एवं आपसी सहयोग के अभाव से शैक्षिक समस्याएँ बढ़ती ही हैं।

विद्यालय के पठन–पाठन कार्य में बाहरी छात्रों के द्वारा भी रूकावटें उत्पन्न की जाती हैं। बाहरी छात्रों का इसके पीछे संकीर्ण स्वार्थ केवल राजनीति की सस्ती लोकप्रियता प्राप्त करना होता है किन्तु इस संदर्भ में छात्राओं का कहना है कि इन बाहरी तत्वों का विद्यालय आने का उदेश्य विद्यालय की छात्राओं पर व्यंग्य–छींटाकशी करना, उनका छेड़छाड़ आदि द्वारा यौन–शोषण करना होता है। ऐसी स्थिति में बाहरी तत्वों के आने से उनमें बराबर भय की भावना बनी रहती है जिससे अध्ययन में वे एकाग्रचित नहीं हो पाती।

सामान्य वर्ग के 62.33: एवं अल्पसंख्यक वर्ग के 53.11: छात्रों का विचार है कि विद्यालय में शिक्षकों के मध्य व्याप्त गुटबन्दी शैक्षिक वातावरण के विकास में बाधक हैं। इससे शिक्षा के समान अवसर–प्राप्ति में बाधा उत्पन्न होती है।

कक्षा में छात्रों की संख्या अधिक होने से अध्यापकों के व्याख्यान को सुनने की समस्या सभी वर्ग के छात्रों (63.26: से 81.25:) ने माना है। विद्यार्थियों की बढ़ती हुई संख्या के अनुपात में विद्यालय में समुचित व्यवस्था न होने से छात्र एवं शिक्षक के समाजस्य की कमी से छात्रों की शैक्षित समस्याओं का समाधान नहीं हो पाता है।

अग्रिम प्रश्नोत्तरों से निष्कर्षित हुआ कि माध्यमिक विद्यालयों में प्रायः निम्नांकित समस्याएँ भी छात्र–छात्रों के समक्ष रहती हैं जो उनकी शैक्षिक प्रगति में बाधा उत्पन्न करती हैं– प्रायः प्रधानाचार्य और शिक्षकों के मध्य आपसी सामजस्य का अभाव, शिक्षकों के द्वारा शिक्षण–कार्य में रूचि न लेना अथवा जब–तब की जाने वाली हड़तालें, सामूहिक अवकाश, कक्षा–बहिष्कार आदि–आदि। प्रायः शिक्षक–शिक्षिकाएँ कक्षाओं में देर से अध्यापन–कार्य आरम्भ करते हैं। फलतः अन्ततः उनका पाठ्यक्रम सही समय पर पूर्ण नहीं होता है जिससे वे निरन्तर चिन्तित रहते हैं। इस समस्या को लगभग सभी वर्ग की छात्राओं (45.10: से 54.85:) ने एवं छात्रों ने विचारणीय माना।

उपर्युक्त तथ्यों की शैक्षिक प्रगति की बाधा के रूप में सामान्य तथा अल्पसंख्यक वर्ग के छात्रों की तुलना में पिछड़ी एवं अनु0जाति–जनजाति के छात्र–छात्रएँ अधिक अनुभव करते हैं।

संस्थाओं से छात्रों को नियमित रूप से प्राप्त होने वाली छात्रवृत्ति तथा शुल्क–मुक्ति को नियमित एवं यथोचित रूप से प्रदान न करने को सामान्य वग्र के छात्र विशेष समस्या के रूप में स्वीकार करते हुए कहते है कि उन्हें न तो छात्रवृत्ति प्राप्त होती है और न ही शुल्क–मुक्ति की नियमित सुविधा ही। परिणामस्वरूप उन्हें शुल्क के रूप में अत्यधिक धन खर्च करना पड़ता है। दूसरी ओर अन्य पिछड़ी जाति एवं अनु0जाति–जनजाति (37.50: से 42.11:) के छात्रों एवं छात्राओं का कहना है कि उन्हें प्राप्त होने वाली छात्रवृत्ति आदि जो भी सुविधाएँ

मिलती हैं वे समयानुसार न प्रान्त होने से उनकी शैक्षिक समस्याएँ यथावत् बनी रहती है। अतः इस संदर्भ में विद्यालयीय कार्यप्रणाली में सरलता एवं पारदर्शिता अत्यन्त आवश्यक है।

निष्कर्ष : उपर्युक्तानुसार अध्ययन के सम्पूर्ण विश्लेषण–विवेचन के आधार पर माध्यमिक विद्यालयों में अध्ययरत छात्र–दात्राओं की अनेक मूलभूत समस्याएँ उभर कर सामने आईं यथा–

- घर से विद्यालय का अधिक दूर होना जिससे छात्र–छात्राओं को विद्यालय आने–जाने में वर्ष भर अनेक कठनाईयों का सामना करना पड़ता है। छात्रों की अपेक्षा छात्राओं को समय पर विद्यालय पहुँचने में अधिक कठिनाई होती है और अनेक व्यवहारिक कष्ट उठाने पड़ते हैं, जैसे घर पर खाना बना कर विद्यालय जाने की बाध्यता, समय पर आवागमन के साधनों का न मिलना, वाहन उपलब्ध होने पर भी उसमें अत्यधिक भीड़–भाड़ होने पर विवशतः समुचित एवं सुरक्षित रूप से बैठने–खड़े रहने के अभाव में प्रायः ही यौन–शोषणगत शरीरिक–मानसिक कष्टों को बर्दाश्त करते हुए अक्सर विलम्ब से विद्यालय पहुँचना।
- परिवार से पर्याप्त धन का न मिलना जिससे छात्र–छात्रएँ अध्ययन में रूचि रहते हुए भी धनाभाव के कारण शैक्षिक उदेद्श्य की प्राप्ति करने में असहाय हो जाते हैं जबकि छात्राओं की तत्सम्बन्धी समस्याएँ तब और बढ़ जाती हैं जब उनके अभिभावक उनकी शिक्षा प्राप्ति में यथोचित रूचि नहीं लेते और उनकी अध्ययन–सम्बन्धी आर्थिक आवश्यकताएँ पूर्ण नहीं करते। इस संदर्भ में अनुसूचित जाति के छात्र–छात्राओं को अधिक संघर्ष करना पड़ता है।

छात्र–छात्राओं की उपर्युक्त व्यक्तिगत समस्याओं के अतिरिक्त इनकी कुछ विद्यालयीय मौलिक समस्याएँ भी हैं जो इनके शैक्षिक विकास में बाधक सिद्ध हो रही हैं यथा–

- अध्यापकों में परस्पर सामजस्य न होना।
- प्रधानाचार्य के साथ अध्यापकों में सामजस्य का अभाव होना।
- विद्यालय में अध्ययन की समुचित सुविधा–संसाधन का अभाव।
- कक्षा में बैइने की समुचित व्यवस्था का अभाव।

अतएव, यदि माध्यमिक शिक्षा के स्तर का विकास एवं स्तरोन्नयन करना है तो छात्र–छात्राओं की उपर्युक्त समस्याओं का निराकरण करना होगा।

●●●

मुस्लिम महिलाओं में शिक्षा की स्थिति का एक समाजशास्त्रीय अध्ययनः रांची जिले के इटकी प्रखंड के संदर्भ में

नायाब जेबा

शोध छात्रा

स्नातकोतर समाजशास्त्र विभाग

रांची विश्वविद्यालय रांची

सारांश

प्रस्तुत शोध पत्र में मुस्लिम महिलाओं में शिक्षा की स्थिति का अध्ययन रांची जिले के इटकी प्रखंड के संदर्भ में किया गया है। अध्ययन हेतु तथ्यों का संकलन द्वितीयक स्रोतों के माध्यम से किया गया है। अध्ययन से प्राप्त तथ्य ये दर्शाता है कि मुस्लिम लडकियां शिक्षा प्राप्त कर रही हैं, किंतु उनकी शिक्षा का स्तर प्राथमिक मिडिल और हाई स्कूल की शिक्षा को शामिल किया गया है। मुस्लिम महिलाओं में उच्च शिक्षा का स्तर निम्न हैं वर्तमान समय में मुस्लिम महिलाओं को उच्च शिक्षा के प्रति जागरूक करने की नितांत आवश्यकता है। ताकि शिक्षा प्राप्त कर वे अपनी समस्याओं का समाधान करते हुए देश के विकास में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकें।

मुख्य शब्द– मुस्लिम महिला, अषिक्षा, आर्थिक स्थिति, पारिवारिक स्थिति, परंपरागत मान्यताएं

षिक्षा एंव महिलायें

उन्नत और विकसित राष्ट्र कहलाने का गौरव तभी प्राप्त होगा जब महिला भी पुरूषों के समान ही शिक्षित होकर आत्मनिर्भर बनेगी। किसी भी राष्ट्र के सामाजिक, आर्थिक सांस्कृतिक विकास में शिक्षा की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। शिक्षा के अभाव में विकास की कल्पना नहीं की जा सकती। आज पूरे विश्व में महिला साक्षरता दर में वृद्धि हुयी है। परंतु भारत ही एक मात्र ऐसा देश है जहां अधिकांश महिलायें अशिक्षित हैं। गुरूमूर्ति के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि किसी भी देश के विकास में महिलाओं की महत्वपूर्ण भूमिका होती है और सशक्त महिलायें सामाजिक विकास में अपना योगदान देती हैं। भारत में 24 करोड 50 लाख महिलायें आज भी निरक्षर हैं एवं 2011 की जनगणना के आंकडों के अनुसार भारत में 8.4 करोड बच्चे शाला नहीं जाते है। शिक्षा विभाग से प्राप्त जानकारी के अनसुार 2015–16 में प्राथमिक और पूर्व माध्यमिक स्तर पर लगभग 50 हजार बच्चों ने पढाई बीच में ही छोड दी है और इसी तरह दसवीं के बाद भै बडी संख्या में विद्यार्थीयों ने स्कूल छोडा हैं शिक्षा के क्षेत्र में पर्याप्त विकास करना भारत के समक्ष सबसे बडी चुनौती है।

भारत की आबादी में मुसलमानों की संख्या 14 प्रतिशत है। 2011 के जनगणना के आंकडों से मुसलमानों की आर्थिक स्थिति निम्न है। मुसलमानों के माथे पर सबसे अनपढ कौम का कलंक भी लग गया है। क्योंकि जनगणना आंकडों के अनुसार भार में सबसे अधिक अनपढ 42 प्रतिशत से भी अधिक मुसलमान हैं। देश

में मुस्लिम समुदाय के लोगों में स्नातकों की संख्या कम हैं अगर मुस्लिम महिलाओं की शिक्षा की स्थिति को देखा जाए तो यह संतोषजनक नहीं कही जा सकती है।

शिक्षा का अधिकार प्रत्येक नागरिक का मानवीय अधिकार हैं मुस्लिम महिला भी तो मानव है फिर मुस्लिम महिला को इस शिक्षा के अधिकार से वंचित कर उनके साथ भेदभाव क्यों किया जाता है? पुरूष प्रधान समाज में मुस्लिम लडकियों को शिक्षा से वंचित करने के कई कारण हैं।

लडके व लडकियों में अंतर करके लडकियों को विद्यालय न भेजना, बेटियों को पराया धन के रूप में मान्यता, लडकियों को विद्यालय न भेजकर उनसे घरेलू काम करवाना,आर्थिक तंगी, परंपरागत पिछडी सोच व रूढिवादिता, शिक्षित लडकियों के समकक्ष शिक्षित लडके न मिल पाने के कारण उनके विवाह में समस्या होती है। लडकियों की शिक्षा के बारे में माता पिता यह सोचते हैं कि उन्हें शिक्षित करके आर्थिक रूप से भला क्या लाभ होगा? कुछ लोगों का मानना है कि लडकियां पढ लिखकर खराब व्यवहार करने लगती है। अत मुस्लिम परिवारों में लडकियों की शिक्षा को महत्व नहीं दिया जाता है। सिगनपोरिया मुनीरा का अध्ययन बाम्बे व पुणे की 100 मुस्लिम तलाकशुदा महिलाओं पर आधारित है।[1] जिसमें यह बताया गया है कि अधिकांश मुस्लिम महिलायें कम शिक्षित हैं और समाज के निम्न वर्ग से संबंधित हैं। इसलिए वे आर्थिक तंगी व सामाजिक समस्याओं से ग्रसित हैं। इसलिए मुस्लिम महिलाओं की देखभाल सहायता व उन्हें आत्मनिर्भर बनाने के लिए प्रयास करना पडेगा।

मुस्लिम महिलाओं के सर्वांगिण विकास के लिए उनका शिक्षित होना अति आवश्यक है। वर्तमान परिप्रेक्ष्य में मुस्लिम महिला शिक्षित नहीं होगी तो वह न तो सफल गृहणी बन सकेंगी और न ही कुशल माता। अगर एक मां ही अशिक्षित होगी तो वह अपने बच्चों का सही मार्गदर्शन करके उनका मानसिक विकास कैसे कर पाएंगी और एक सभ्य मुस्लिम समाज का निर्माण एवं विकास संभव नहीं हो सकेगा। शिक्षा से महिलाओं में अनेक गुणों का समावेश होता है जैसे मस्तिष्क का विकास, स्वास्थ्य में सुधार, अपने गृहस्थ जीवन की सुचारू देखभाल करना, आत्मनिर्भरता, व्यवहार में कुशल होना आदि। मुस्लिम समुदाय के सामने शिक्षा सबसे महत्वपूर्ण सामाजिक आर्थिक चुनौती है। मुस्लिम समुदाय की तरक्की समृद्धि एवं सशक्तिकरण में शिक्षा की कमी ही सबसे बडी बाधा है। इस्लाम में शिक्षा और सीखने की प्रक्रिया को अधिक महत्व दिये जाने के बावजूद भारत में कई मुस्लिम समुदाय ने लंबे समय तक शिक्षा की आवश्कता को नजर अंदाज किया।

किसी भी समाज के लिए शिक्षा एक महत्वपूर्ण घटक है, क्योंकि शिक्षा के द्वारा ही व्यक्ति में समाजिक बुराईयों के प्रति सचेत, सामाजिक उतरदायित्वों व लोकतंत्रात्मक नागरिकता के गुणों आदि का ज्ञान होता है जो किसी भी समाज या राष्ट्र को सुव्यवस्थित तरीके से आगे करने में मदद करते हैं। व्यक्तियों का सामूहिक जीवन ही राष्ट्रीय जीवन का स्वरूप ग्रहण करता है। यही कारण है कि प्रत्येक समाज एवं राष्ट्र अपने नागरिकों के लिए शिक्षा की व्यवस्था करता है। जब हम भारत की शिक्षा व्यवस्था पर विचार करते हें तब एक ओर हमारा ध्यान भारत की प्रजातांत्रिक व्यवस्था पर जाता है जहां प्रत्येक नागरिक समान है और सभी को अपनी क्षमता एवं योग्यतानुसार शिक्षा प्राप्ति का अधिकार है वहीं ध्यान ऐसे वर्गों पर भी जाता है जो विविध कारणों से शिक्षा से वंचित रह जाते हैं। ऐसे वर्गों में एक बडा वर्ग मुस्लिम समुदाय का आता हैं। सन् 2011 ई की भारतीय जनगणना के अनुसार मुस्लिम समुदाय का प्रतिशत 15.6 है जो अनुपात की दृष्टि से अल्पसंख्यक हैं भारत में मुसलमान

शैक्षिक और आर्थिक रूप से दूसरे समुदायों की अपेक्षा पिछडा है इनकी शैक्षिक स्थिति भी बहुत निराशाजनक है जबकि इस्लाम धर्म में हर मुसलमान के लिए शिक्षा अनिवार्य हैं इस्लाम धर्म भारत में प्रचलित धर्म से भिन्न था।

इस्लाम धर्म में प्राचीन कालीन शिक्षा व्यवस्था

इस्लामी शिक्षा की दो संस्थाएं थी मकतब और मदरसा। मकतब का अर्थ है वह स्थान जहां लिखने पढने की शिक्षा दी जाती है। ये मकतब प्रायः मस्जिद के साथ होते हैं। प्रारंभिक शिक्षा देने का प्रबंध मकतबों के अतिरिक्त खनकाह या दरगाह में भी किया जाता था। जहां उनके निर्माता मौलवी की नियुक्ति कर देते थे। मदरसों में उच्च शिक्षा का प्रबंध होता था। जहां विभिन्न विषयों के लिए विषेषज्ञ विद्वान नियुक्त होते थे,[2] जहां लौकिक और धार्मिक विषयों की शिक्षा दी जाती थी, जो प्रायः 10–12 में पूरी होती थी। किसी व्यक्ति को अध्यापन करने की या व्याख्यान देने की अनुमति तब तक नहीं दी जाती थी जब तक किसी बडे विद्वान ने उसे ऐसा करने के योग्य घोषित न कर दिया हो। इन शिक्षा केंद्रों के खर्च के लिए प्रायः जागीरें दी जाती थीं अथवा कुछ नियमित वित व्यवस्था शासन की ओर से नियत हो जाती थी। मदरसों का प्रबंध प्राय प्रबंध समितियों या सम्मानित और दानी नागरकिों द्वारा होता था। मदरसों के लिए प्रायः छात्रावास होते थे।[3] इनके व्यय की पूर्ति दान में मिली बडी बडी जागरीयों से होती थी। छात्रावासों में विद्यार्थियों को सभी अपेक्षित पाठय सामग्री तथा वहां रहने के लिए आवश्यक वस्तुएं मिलती थी।

मुस्लिम बालिकाओं में शिक्षा

मुस्लिम समाज में शिक्षा को बढावा देने के लिए भारत सरकार ने अनेक संवैधानिक अधिकार प्रदान किये हैं जैसे धारा 15,17,25 व 30 तथा नीति निर्देशक तत्व 330, 339 व 380 तथा 1ए के अनुसार उनके हितों की रक्षा की गई हे। इन धाराओं व नीति निर्देषक तत्वों के क्रम में अनेक कार्यक्रम आयोजित किये गये तथा संस्थानों की स्थापना की गई, जिसके तहत सन् 1978 में राष्ट्रीय अल्पसंख्यक आयोग की स्थापना की गई, जिसे 1993 ई में संवैधानिक दर्जा प्रदान किया गया। मौलाना आजाद एजुकेशन फाउंडेशन की स्थापना अल्पसंख्यक वर्ग के शैक्षिक व सामाजिक उत्थान के सरोकार के लिए की गई जो अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहा है। यह छात्राओं की शिक्षा में योगदान हेतु आवासीय विद्यालयों की स्थापना में सहयोग प्रदान कर रचनात्मक कार्य कर रहा है।[4] यह गैर सरकारी संगठनों को भी आर्थिक सहयोग संस्थान एम ए ई एफ की स्थापना की गई।

15 अगस्त 2005 को 15 सूत्रीय कार्यक्रम में अल्पसंख्यकों के शैक्षिक उत्थान पर बल दिया गया है। सच्चर कमीशन ने भी अल्पसंख्यकों के शैक्षिक व आर्थिक उत्थान पर बल दिया गया है। सभी प्रयासों के बावजूद मुस्लिम समुदाय यह अनुभव कर रहा है कि उन्हें शैक्षिक व आर्थिक उत्थान के अवसरों को उपलब्ध करवाने में भेदभाव का सामना करना पडता है। एसआरसी की रिपोर्ट के आधार पर यह सामने आया है कि अल्पसंख्यक समुदाय के छात्र और विषेषकर बालिकाएं सेकेण्डरी स्तर तक शिक्षा प्राप्त करने में असमर्थ होते हैं तथा ड्रॉपआउट की विकराल समस्या से ग्रसित हैं।[5] वस्तुतः आर्थिक क्षमता कमजोर होती जाती है। जिससे वे प्राथमिक शिक्षा के भी अवसर खो देते है।

झारखण्ड में मदरसा बोर्ड से मान्यता प्राप्त मदरसे सर्व शिक्षा अभियान से जुडे हुए हैं। जिसमें कई मुस्लिम लडके व लडकियां पढते हैं। मदरसों में मुस्लिम अभिभावक अपनी लडकियों को भेजना अच्छा समझते हैं। लडकियां मदरसों में शिक्षा ग्रहण करती है। नामांकन के संबंध में पाया गया कि मदरसों में लडकों से अधिक

लडकियां है। झारखण्ड में मदरसों का पाठयक्रम झारखण्ड बोर्ड के पाठयक्रम पर आधारित हैं अर्थात मदरसा में झारखण्ड बोर्ड का ही पाठयक्रम होता है। इन मदरसों मे धार्मिक शिक्षा प्राथमिक स्तर तक ही दी जाती हे। इन मदरसों में प्राथमिक सतर पर कुरान व हदीस के अतिरिक्त हिंदी, अंग्रेजी, उर्दू, विज्ञान सामाजिक विज्ञान गणित पार्यावरण व कम्पयूटर आदि की शिक्षा दी जाती है। साथ ही स्तर उन्नत करने के लिए प्रशिक्षण कार्यक्रम आयोजित किये जाते हैं। डीआई एस ई के आंकडों के अनुसार मुस्लिम छात्राओं के नामांकन में प्राथमिक स्तर पर थोडा सुधार हुआ है। यह आंकडा 48.65 प्रतिशत से 49.17 प्रतिशत तथा उच्च प्राथमिक स्तर पर 49.33 प्रतिशत से 51.31 प्रतिशत है। यह वृद्धि 2006–07 से 2010–11 के मध्य नामांकन को दर्शाता है फिर भी वृद्धि कम है जिसके मुख्य कारण निम्न हैं[6]–

- गरीबी
- घर पर खेल के साधनों का अभाव
- अभिभावकों में अल्प तथा न्यून शिक्षा
- न्यूनतम शैक्षिक संसाधन
- अध्यापकों में उचित दृष्टिकोण का अभाव
- कम योग्यताधारी शिक्षक
- एक से अधिक कक्षाओं को मिलाकर पढाने वाला एक मात्र अध्यापक

भारत में मुस्लिम समुदाय 15.6 प्रतिशत है। 2012–13 में प्राथमिक स्तर पर 14.2 प्रतिशत तथा उच्च प्राथमिक स्तर पर नामांकन 13.15 प्रतिशत रहा हे। यह भी देखने में आया है कि मुस्लिम बालिकाओं के नामांकन एवं ठहराव में भी वृद्धि हुई है। सन् 2001 में बालिकाओं का ड्रापआउट 3 करोड था, वह मार्च सन् 2013 में मात्र 30 लाख रह गई है। सभी प्रयासों के बावजूद यह देखने में आया है कि सन् 2001 व 2011 की कुल तुलना में साक्षरता में कोई विशेष अंतर नहीं आया है जिसे निम्न तालिका में देखा जा सकता है

वर्ष	मुस्लिम साक्षरता प्रतिशत में			राष्ट्रीय साक्षरता प्रतिशत में			मुस्लिम साक्षरता/राष्ट्रीय साक्षरता में अंतर
	पुरूष	महिला	औसत	पुरूष	महिला	औसत	
2001	67..6	50.1	59.10	75.3	53.7	64.8	5.7
2011	74.9	50.3	67.69	82.14	65.46	74.6	6

रांची जिले के इटकी प्रखंड में मुस्लिम शिक्षा की स्थिति

रांची जिले का इटकी प्रखंड मुस्लिम बाहुल्य प्रखंड के नाम से जाना जाता है। अगर यहां की आबादी को देखें तो कुल आबादी 50058 है जिसमें 25234 पुरूष एवं 24834 महिलायें हैं। यहां पर हिंदू 21.69 प्रतिशत, मुस्लिम 31.77 प्रतिशत और ईसाई 8.5 प्रतिशत हैं। यहां की कुल साक्षरता दर 73.58 प्रतिशत है। जबकि मुस्लिम महिलाओं की साक्षरता दर 30 प्रतिशत से भी कम है। सच्चर समिति की रिपोर्ट से मुस्लिम लडकियों की वास्तविक शैक्षिक स्थिति जानने के पश्चात यह अनुभव हुआ कि मुस्लिम समाज लडकियों की शिक्षा एवं सशक्तिकरण के प्रति अधिक जागरूक नही हैं यद्यपि भारत में बहुत पहले से ही मदरसा शिक्षा प्रणाली के अंतर्गत

लडकियों को भी शिक्षा दी जाती है। सन् 1990 के बाद लडकियों की शिक्षा के लिए कई मदरसे खोले गए जहां इस्लामिक शिक्षा के साथ साथ दुनिया की भी शिक्षा प्रदान की गई। मदरसे के पाठयक्रम को आधुनिक शिक्षा से भी जोड दिया गया है। परंतु आंकडों पर दृष्टि डालने से पता चलता है कि मुस्लिम लडकियों की शैक्षिक स्थिति अन्य समुदायों की तुलना में बहुत पीछे है।

सर्व शिक्षा अभियान भी इस ओर उठाया गया महत्वपूर्ण कदम है। भारत सरकार ने इस अभियान के माध्यम से राज्यों को मार्ग दर्शन दिया कि शिक्षा की सभी परियोजनाओं को इस अधियान के अंतर्गत एकीकृत करें व जहां भी विद्यालय की आवश्यकता हो वहां विद्यालय खोला जाये। फिर भी शिक्षा का वर्तमान स्वरूप झारखंड की मुस्लिम छात्रओं को आकर्षित नहीं कर पा रहा है। 21वीं सदी में मुस्लिम छात्राएं निरक्षरता के चंगुल से निकल पाने में अपने आपको असफल होता पा रही हैं। मुस्लिम समुदाय को प्रोत्साहित करने के लिए अनेक योजनाएं और समितियां बनाई गई हैं लेकिन आज तक यह समस्या पूर्ण रूप से हल नही हो पाई है।

निष्कर्ष

शिक्षित महिला भविष्य में निराशा एवं शोषण के अंधकार से निकलकर परिवार समाज व राष्ट्र के विकास और उत्थान में अपना उतरदायित्व सही अर्थों में स्थापित कर सकती हैं अध्ययन से यह निष्कर्ष प्राप्त होता है कि मुस्लिम महिलायें और उनके परिवार की शिक्षा की स्थिति संतोषजनक नहीं है और अधिकांश मुस्लिम महिलाओं का मानना है कि समाज में लडकियों की निम्न स्थिति का एक कारण उनकी अशिक्षा हैं अशिक्षा मुस्लिम महिलाओं के विकास में सबसे बडी बाधा है। वर्तमान में राष्ट्रीय स्तर पर यह अनुभव किया जा रहा है कि महिलाओं की शिक्षा के दिशा में प्रयास के बिना समाज का संतुलित विकास संभव नही है। मुस्लिम लडकियां के शिक्षा के विकास में सरकार लगातार प्रयासरत रही हें और विभिन्न शिक्षा कार्यक्रम तथा नीतियों को लागू कर इनको आवश्यकतानुसार निर्देशित करती रहती हैं। सरकार को इस दिशा में सफलता भी मिली है। परंतु इसमें और प्रयास किये जाने की आवश्यकता है।

संदर्भ सूची

1. ताहिर महमूद, 1994,एजुकेशनल डेवलपमेंट इन मुस्लिम वर्ल्ड, नई दिल्ली पृ 102
2. मोहम्मद सफिकुजमन, 2001, प्रोब्लेम्स ऑफ माइनॉरिटी एजुकेशन, बुक लिंक कारपोरेशन, हैदराबाद पृ
3. सेन जे एम, 2002, हिस्ट्री ऑफ एलीमेंटी एजुकेशन इन इंडिया, कॉस्मों पब्लिकेशन, नई दिल्ली पृ 20
4. जफर एस एम, 1984, तालिम हिंदुस्तान का मुस्लिम एहदे इ हुकुमत, तारिक उर्दू ब्यूरो, नई दिल्ली पृ 44
5. राफिक जकारिया, 2004, अंडरस्टेंडिंग द इंडियन मुस्लिम, भारतीय विद्या भवन मुंबर्ड पृ 37
6. झा हेतुकर, 2011, डिके ऑफ विपेज कम्युनिटी एण्ड द डिक्लाइन ऑफ वर्नाकुलर एजुकेशन इन बिहार एण्ड बंगाल, इंडियन हिस्टोरिकल रिव्यू, पृ 119

●●●

प्राचीन भारत में सूर्योपासना

डा0 ओमकार सिंह

प्रवक्ता इतिहास. अर्जुन सिहं महाविद्यालय मिर्जामुराद वाराणसी

भारत में प्राचीन काल से ही विष्णु शिव और शक्ति की पूजा के साथ–साथ सूर्य पूजा का प्रचार था। पूर्वमध्यकाल में सूर्य एक देवता के रूप में प्रतिष्ठित हो गये थे। सूर्य आदित्य और ग्रह के रूप में भी पूजित थे।[1] सूर्य पूजको की दृष्टि में सूर्य की सत्ता सर्वोपरि थी, सूर्य पूजा के समय 'स्वास्ति–वाचन' तथा शान्तिवाचन भी होता था। भारत में सूर्य पूजा की यह परम्परा अत्यन्त प्राचीन मानी जाती है। महाभारत में सूर्य को देवेश्वर कहा गया है।[2] अग्निपुराण में सूर्य की दो पत्नियों राज्ञी और निष्प्रभा का उल्लेख मिलता है। ऐसा भी विवरण मिलता है कि भारत में सूर्यपूजा का प्रचार मग ब्राह्मणों ने किया। आर0जी0 भण्डारकर के अनुसार भारत में सूर्य पूजा फारस से आयी और उसी के प्रभाव से भारत में अनेक सूर्य मंदिर बनाये गये। भविष्य पुराण में मग जाति द्वारा सूर्य मंदिर के निर्माण का उल्लेख मिलता है।[4] इस मग जाति के लोगों को बाद में शकद्विपीय ब्राह्मण के नाम से सम्बोधित किया जाने लगा। वराहमिहिर के अनुसार सूर्य प्रतिमा और मंदिरों के निर्माण सर्वप्रथम मग अथवा शकद्विपीय ब्राह्मणों ने ही किया।[5] अलबीरूनी ने भी मगों के साथ सूर्योपासना के सम्बन्ध की चर्चा किया है।[6] इस युग के अभिलेखों में सूर्य के विभिन्न नामों का उल्लेख हुआ है। यथा – तरूणादित्यदेव, इन्द्रादित्यदेव, गंगादित्यदेव, लोलार्क आदि।[7] इस काल में सूर्यपूजा का व्यापक प्रचार होने के कारण सूर्य–उपासकों का एक अलग सम्प्रदाय 'सौर सम्प्रदाय' बन गया था। इस सम्प्रदाय के अनुयायी उत्तर–दक्षिण भारत में समान रूप से रहते थे। आनन्दगिरि के अनुसार इनके छः वर्ग थे जो लाल चन्दन का तिलक लगाकर लाल फूलो की माला धारण करते थे तथा आठ अक्षरों की सूर्य गायत्री का जाप करते थे।[8] तत्कालीन कवि मयूरभट्ट द्वारा सूर्य की स्तुति में रचित 'सूर्यशतक' नामक काव्य को आदर की दृश्टि से देखा जाता था। सौर सम्प्रदाय से सम्बद्ध कुछ अन्य शास्त्र जैसे सूर्यपुराण, सौर धर्म, सौर–धर्मोत्तर पुराण आदि की रचना इसी काल में हुई।[9]

पूर्वमध्यकालीन उत्तर भारतीय राजाओं के अभिलेखों में सूर्य उपासना को प्रश्रय देने का उल्लेख मिलता है। चन्देलकाल में निर्मित सौर सम्प्रदाय से सम्बन्धित सूर्य का मंदिर खजुराहों में स्थित है। खजुराहों में निर्मित सूर्य–मंदिर 'छत्रकोपत्र' नाम से प्रसिद्ध था। यहाँ निर्मित सूर्य की प्रतिमाओं में से कुछ में सूर्य, धातृ–सूर्य, सूर्यनारायण और हरिहर, हिरण्यगर्भ के रूप में अंकित था। दूधई चाँदपुर से चन्देल काल में निर्मित अनेकों सूर्य प्रतिमाएँ प्राप्त हुई हैं सूर्य विश्णु का ही एक रूप समझा जाता है। सम्भवतः सूर्य की मूर्ति उनकी राजसी मूर्ति है।[10] अजमेर संग्रहालय में सुरक्षित 12वीं सदी के एक अभिलेख [11]के अनुसार सूर्य विश्णु के नेत्र थे।[12] चन्देल षिलालेखों में इस बात की पुश्टि होती है कि तत्कालीन समय में धार्मिक क्रिया–कलापों को सम्पन्न करने से पहले अन्य दूसरे देवताओं के साथ सूर्य की पूजा किया जाता था।

चाहमानों के समय में भी सूर्य उपासना प्रचलन में था। नवीं सदी में चाहमान षासक चन्द्रमहासेन ने 'भास्कर' नामक एक सूर्यमंदिर धौलपुर में प्रतिश्ठित किया था।[13] इस सूर्यप्रतिमा का लग्वाकोट सिर पर बड़ा वस्त्र तथा पैर में लम्बा जूता दर्षनीय है। अभिलेखीय साक्ष्यों से ज्ञात होता है कि नाडुल के चाहमानों के राज्यान्तर्गत श्रीमाल नामक स्थान पर एक सूर्य मंदिर बना था। इस मंदिर के देव का जयस्वामी या जगत्सवामिन था। भीनमल और सिरोही के वर्मन ग्राम में भी जगत्स्वामिन (सूर्य) के मंदिर का उल्लेख मिलता है।[14] राजा भट्टपट्ट द्वितीय के प्रतापगढ़ अभिलेख से ज्ञात होता है कि प्रतापगढ़ के चाहमानों के राजकुमार इन्द्रराज ने वहाँ पर एक सूर्य मंदिर का निर्माण कराया था।[15] चाहमान राज्य में सूर्य की पूजा अन्य नामों के अतिरिक्त 'भैलसवामदेव' के नाम से भी होता था।[16]

भीनमाल के परमार षासक कृश्णराज का एक अभिलेख सूर्यस्तुति से प्रारम्भ होता है।[17] अलबीरूनी के अनुसार मुल्तान में सूर्य की भव्य प्रतिमा थी। जहाँ दर्षनार्थ हजारों व्यक्ति हर वर्श आते और उपहार आदि का समर्पण करते थे।[18] लोग नित्यस्नानादि के बाद सूर्य को अर्ध भी देते थे। सिन्धुराज ने अपनी अंजुली में जल और पुश्प लेकर अर्ध दिया था।[19] आबू के परमार षासक पूर्णपाल की विधवा बहन लाहिणी देवी ने वाटपुर में नदी के किनारे एक सूर्य मंदिर बनवाया था।[20] इसी प्रकार मालवा के षासक जगदेव के मंत्री लोलार्क की भार्या पदमावती ने निम्बादित्य नामक एक सूर्य मंदिर का निर्माण कराया था।[21]

षासकों के अलावा प्रजा भी इस कार्य में सहयोग देती थी। भीनमाल के षासक कृश्णराज के कार्यकाल में व्यापारी धन्धुक ने जगतस्वामी नामक एक प्रसिद्ध सूर्यमंदिर का निर्माण कराया था और जैजक नामक ब्राह्मण ने व्यक्तिगत धन से इस पर स्वर्ण कलष लगवाया था।[22] 1026–27 ई0 में गुजरात के मटेरा नामक स्थान पर सूर्य मंदिर के निर्माण की सूचना अभिलेखों से मिलती है।[24] इस प्रकार गुजारत में भी सूर्योपासना का प्रचलन था। गहड़वाल वंश भी सूर्योपासना का आदर करता था। गहड़वाल नरेश जयचन्द्र ने लोलार्क भगवान के नाम पर आधा गाँव दान में दे दिया था।[25] एलोरा की गुफा में सूर्य की मूर्तियाँ पूजा हेतु उत्कीर्ण की गई थी।[26] उड़ीसा का कोणार्क सूर्यमंदिर पूर्वी भारत में सूर्यपूजन का समर्थन करता है। मध्य भारत मे सूर्यपूजा हेतु मन्खेरा में प्रतिहारों ने मंदिर बनवाया था।[27] परवर्ती पुराणों यथा – भविष्य, वराह, स्कन्द, ब्रह्मा, गरूड़, विश्णोधर्मोत्तर, अग्नि, कल्किपुराण इत्यादि से सौर सम्प्रदाय के बारे में विस्तृत जानकारी मिलती है, नैशधियचरित, मालतीमाधव, वेणीसंहार आदि साहित्यिक ग्रन्थ भी सूर्य उपासना का ज्ञान कराते हैं।[28]

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. रामाश्रय अवस्थी, खजुराहो की देव प्रतिमायें, पृ0 161
2. प्रतापचन्द्र राय, महाभारत (क्रिटिकल इंडियन पूजा), 2, 46,16
3 .भण्डारकर, वैश्णविज्म, शैविज्म एण्ड अदर माइनर रिलिजस सिस्टम, पृ0 177
4 दृभविष्यपुराण, 134, राघवेन्द्र पांथरी, प्राचीन भारत में समाजिक परिवर्तन, पृ0 283
5 .भण्डारकर, पूर्वोद्धृत, पृ0 177–178
6 .सचाऊ, भाग–1, पृ0 121, जे0एस0 मिश्र, ग्यारहवीं सदी का भारत, पृ0 187–188
7 .एपि0 इं0, भग–9, पृ0 1–5, भाग–14, पृ0 180–85, भाग–5, पृ0 116–17
8 .भण्डारकर, पूर्वोद्धृत, पृ0 152
9 .वी0सी0 श्रीवास्तव, सन वर्षिप इन एशियन्ट इंडिया, पृ0 354–362
10. ए0 कनिंघम, आ0स0रि0, भाग–2 पृ0 422

11 . वी0सी भट्टचार्य, इंडियन इमेज, भाग–1, पृ0 18
12 .एपि0 इ0, भाग–9, पृ0 1–5, वही, भाग–14, पृ0 180–185, भाग–4, पृ0 121–23
13 .एपि0 इं0, भाग–11, पृ0 56
14 .ओझा गौरीशंकर, जोधपुर का इतिहास, पृ0 52, सिरोही का इतिहास, 22–23
15 .एपि0 इं0, भाग–14, पृ0 187
16 .जे0ए0एस0वी0, जि0–31, पृ0 112
17 .एपि0 इ0, भाग–12, पृ0 59–60
18 .सखाऊ, भाग–1, पृ0 128
19 .इण्डियन एन्टिक्वेरी, भाग–16, पृ0 254
20 .एपि0 इं0, भाग–22, पृ0 61
21 .वही, भाग–9, पृ0 13
22 .जे0 वर्गीस, आर्कियोलाजी सर्वे आफ वेस्टर्न इण्डिया, भाग–10, पृ0 113
23.ए0के0मजूमदारचालुक्याजआफगुजरात,पृ0132
24 .आर0सी0 मजूमदार, द एज३,आफ इम्पीरियला कन्नौज पृ0 333
25. आर0सी0 मजूमदार, द स्ट्रगलण्ण्ण, फार एम्पार पृ0 625
26. वही
27. कृश्णदेव, एषियन्ट इंडिया, पृ0 625
28. नैशधिय, 21, 18, मालतीमाधव, 1,3, वेणीसेहार अक–2, पृ0 68, राघवेन्द्र पांथरी, पृ0 283 पर उद्धृत

●●●

Journal of Socio-Educational & Cultural Research, Vol. 4, No. 9, July-Dec., 2018 ISSN : 2394-2878

वर्तमान समय में दिशाहीन युवावर्ग : एक समाजशास्त्रीय विश्लेषण

डॉ0 अर्चना सिंह

असिस्टेंट प्रोफेसर
महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ (गंगापुर कैम्पस) वाराणसी

समकालीन भारतीय समाज उत्तरोत्तर वृद्धि के प्रकाश में अनेक विपरीत परिस्थितियों से प्रभावित हो रहा है। प्रस्तुत प्रपत्र में युवा भारत के युवा असंतोष के कारणों का विश्लेषण करने का संक्षिप्त प्रयास किया गया है। विदित है कि भारतीय समाज में वर्तमान समय अन्य देशों की तुलनां में सबसे अधिक युवा जनसंख्या है जो किसी देश की प्रगति की सूचक होती है।

भारतीय वर्णाश्रम पद्धति में मानव जीवन के चतुर्दिक विकास के लिए आयु को चार भागों में क्रमशः बालावस्था, युवावस्था, प्रौढ़ावस्था व वृद्धावस्था में विभाजित किया गया था। युवावस्था की आयु क्रमशरू 25 से 50 वर्ष थी। सरकारी गजट के अनुसार युवावस्था में 15 से 34 आयु वर्ग के व्यक्ति सम्मिलित हैं। [1]

युवावस्था में व्यक्ति अत्यधिक कल्पनाशील, ऊर्जावान, प्रतिस्पर्द्धी होता है। मनोवैज्ञानिकों के अनुसार इस अवस्था में उचित नेतृत्व व मार्गदर्शन की आवश्यकता होती है। जिससे युवकों की सकारात्मक ऊर्जा को प्रेरित कर राष्ट्रहित के विकासात्मक कार्यों में लगाया जा सके। इसके अभाव में युवावर्ग में असंतोष व्याप्त हो रहा है। जो भारतीय समाज की एक जटिल समस्या है। क्योंकि युवा किसी भी राष्ट्र की रीढ़ की हड्डी होते है। राष्ट्र की प्रगति इनके चतुर्दिक विकास पर निर्भर होती है। परन्तु वर्तमान परिस्थितियों का आकलन करे तो स्पष्ट होता है कि अधिकांश युवा अपनी वर्तमान स्थिति से असंतुष्ट हैं वैचारिक शून्यता वह दुष्ट प्रवृत्तियों के चक्रव्यूह में फंसा है।

युवावस्था की प्रारम्भिक स्थिति में अनेक शारीरिक व मानसिक परिवर्तन होते हैं। युवा अपने सामाजिक व सांस्कृतिक पर्यावरण का अपने अनुसार विवेचन करने का प्रयास करता है। इस अवधि में वह अपने अस्तित्व को परिवार व समाज में स्थापित करने का प्रयास करता है। इस प्रक्रिया में अनेक नवीन प्रतिमान निर्मित होते हैं तो वो नवीन व पुरातन दोनों प्रकार के प्रतिमान ध्वस्त भी होते हैं। संक्षेप में कहा जा सकता है कि युवावस्था वह अवस्था होती है जिसमें उचित मार्गदर्शन की आवश्यकता होती है। ये मार्गदर्शन युवाओं को परिवार, समाज, धार्मिक व शैक्षणिक ग्रन्थों व सामाजिक व सांस्कृतिक विरासत से प्राप्त होती है। वर्तमान समय में इसका सर्वत्र अभाव दृष्टिगत है जिससे हमारी युवापीढ़ी दिग्भ्रमित है। दिग्भ्रमित होने की स्थिति में ये राष्ट्र के विकास में बाधक बनते हैं।

वर्तमान समय में भारत की सम्पूर्ण जनसंख्या में (1.21 अरब) में लगभग 34.8 : युवावर्ग हैं। 2021' में लगभग 34.1 : हो जायेगी।[2] जो अन्य देशों की तुलना में सर्वाधिक युवा जनसंख्या है। इस युवाशक्ति का प्रयोग सकारात्मक दिशा–निर्देश में हो तो भारत राष्ट्र व्यावहारिक रुप में 'विश्वगुरु' बन जायेगा, परन्तु उचित दिशा–निर्देश के अभाव में यहाँ के युवाओं में भटकाव, कुण्ठा, निराशा दृष्टिगत हो रही है जिससे उनकी ऊर्जा का प्रयोग समाज व संस्कृति के विरोधी कार्यों में हो रहा है।

* Population projections by World Bank

युवावर्ग के दिग्भ्रमित होने का अर्थ है कि मूल उद्देश्य, नैतिक कर्तव्यों व उचित मार्ग से विमुख होकर अनुचित उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु अंवाछित कार्यों में संलग्न होना।

युवावर्ग के दिग्भ्रमित, अनुचित आचरण, चारित्रिक पतन का मूल कारण सामाजिक, सांस्कृतिक, शैक्षणिक, आर्थिक परिस्थितियों में उत्पन्न कमियां है तथा भारतीय परम्परागत समाज में विद्यमान मूल्यों में उत्पन्न ह्रास है। प्रस्तुत प्रपत्र में युवा असंतोष का प्रमुख कारणों शिक्षा व बेरोजगारी, उचित नेतृत्व का अभाव, पश्चिमी संस्कृति का प्रभाव, राजनीति आदि को स्पष्ट करने का संक्षिप्त प्रयास किया गया है।

शिक्षा–

''भारतीय संस्कृति के अनुसार शिक्षा संस्कार है।'' सोलह संस्कारों में विद्यारम्भ नाम से इसकी गणना की जाती है। जिसके द्वारा व्यक्ति के सद्‌गुणों का विकास होता है।

वर्तमान शिक्षा व्यवस्था पूर्ण रुप से व्यवसायिक व सैद्धान्तिक पद्धति पर आधारित है। वर्तमान शिक्षा में सामाजिक व सांस्कृतिक नैतिक मूल्यों का अभाव है। शिक्षा की व्यावहारिक उपयोगिता अत्यन्त ही कम है।

विगत 60–70 वर्षों में शिक्षा का त्वरित गति से संस्थात्मक विकास हुआ। साक्षरता दर में क्रमशः वृद्धि पर अंकित की जा रही है। जो निम्न ह[3]

वर्ष		साक्षरता दर	स्त्री	पुरुष
2001	—	63.2%	45.2%	54.5%
2011	—	69.8%	56.0%	63.1%

उपरोक्त वृद्धि दर के बाद भी शिक्षा की गुणवत्ता का ह्रास दृष्टिगत हो रहा है। ज्ञानार्जन की अभिलाषा नष्ट हो गयी है। शिक्षा का मुख्य उद्देश्य मात्र आर्थिक हो गया है। व्यक्तियों के सर्वोपरि शिक्षा देश की वर्तमान व भावी आवश्यकताओं को पूर्ण करने में असमर्थ हो गयी है।

शिक्षा का व्यवसायीकरण हुआ है। शिक्षा को अधिक से अधिक धनोपार्जन का माध्यम बनाने का प्रयास हुआ है। बेकारी व बेरोजगारी रोकने के लिऐ सतत् प्रतियोगी परिभाषाओं की बाढ़ सी आ गयी है।

परिवर्तन अवश्यभावी है। भारतीय शैक्षिक जगत में भी अभूतपूर्व परिवर्तन हुआ। भारतीय शिक्षा पद्धति धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष पर आधारित थी किन्तु वर्तमान शिक्षा पद्धति उत्पादन, विपणन, मुनाफा, उपयोग केन्द्रित नैतिक व सांस्कृति मूल्यविहीन हो गया है।

वर्तमान शिक्षा प्रणाली सैद्धान्तिक है। प्रायोगिकता के अभाव में इसका प्रयोग आर्थिक क्षेत्रों में पूरी तरह न होने के कारण युवा वर्ग के असंतोष का मुख्य कारण बन रहा है क्योंकि वर्तमान सरकारी आकड़ों को दृष्टिगत किया जाय तो आज भारत में 36ण्6 मिलियन जनसंख्या उच्च शिक्षा प्राप्त है।[4] शिक्षा दर में वृद्धि के पश्चात भी बेरोजगारी व निर्धनता में वृद्धि हो रही है यद्यपि वर्तमान सरकार इसके समाधान में प्रयासरत है।

उपरोक्त शैक्षिक दर में वृद्धि के पश्चात् यह अनुमान लगाया जाता है कि हम प्रगति की दिशा में अग्रसर हो रह है किन्तु व्यवहारिक स्तर पर सामाजिक समस्याओं में वृद्धि हो रही है।

वर्तमान शिक्षा व्यवस्था में अनेक समस्यायें विद्यमान है जैसे उद्देश्यहीनता, अनुशासनहीनता, उच्छृंखल व्यवहार, निर्देशन व परामर्श का अभाव, दोषपूर्व पाठ्यक्रम, दोषपूर्ण परीक्षा प्रणाली, सुंगठित सामाजिक जीवन का अभाव, शैक्षिक संस्थाओं की अवांछनीय वृद्धि, शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी होना, भारतीय पौराणिक व धार्मिक शिक्षा का ह्रास होना आदि है।

वर्तमान समय में प्रतिवर्ष साक्षरता दर में वृद्धि अंकित की जा रही हैं किन्तु शिक्षा की गुणवत्ता में ह्रास हो रहा हैं। युवाओं को शैक्षिक डिग्री तो प्राप्त हैं किन्तु मानसिक क्षमता का उचित प्रयोग करने की क्षमता विलुप्त हो रही है। इलेक्ट्रानिक यंत्रों के समान युवावर्ग एक पूर्व निधारित पाठ्यक्रम के अनुसार डिग्री प्राप्त कर लेता है। उसका उचित प्रयोग न करने कारण उसमें हताशा व असंतोष व्याप्त होने लगता है जो समाज विरोधी कार्यों को करनें के लिए प्रोत्साहित करता है।

बेरोजगारी–

युवावर्ग के दिग्भ्रमित होने का द्वितीय कारण बेरोजगारी है। वर्तमान शिक्षा प्रणाली प्रायोगिक न होने के कारण निर्धनता व बेरोजगारी में वृद्धिदर अंकित कर रही है। भारत में 18–34 आयुवर्ग में स्नातक या उससे अधिक पढ़े–लिखे लोगों में बेरोजगारी की समस्या अधिक हैं। ग्रामीण क्षेत्रों में इस आयु में हर तीसरा स्नातक बेरोजगार है जबकि नगरीय क्षेत्रों में हर चौथा स्नातक बेरोजगार है।[5] जबकि इसी आयुवर्ग में अशिक्षित युवावर्ग में बेरोजगारी कम है क्योंकि अशिक्षित लोग हर प्रकार के रोजगार स्वीकार कर लेते हैं जबकि शिक्षित लोग अपनी डिग्री के अनुरुप रोजगार चाहते हैं।

अर्थशास्त्रियों के अनुसार ''जब किसी देश की श्रमशक्ति को उसके कार्य क्षमता के अनुसार बाजार दर पर 180 दिन तक कार्य न मिलें तो इस अवस्था को बेरोजगारी कहा जाता है। और सम्बन्धित व्यक्ति को बेरोजगार माना जाता है। श्रमशक्ति में वृद्ध, रोगी, बालक व अक्षम व्यक्तियों को सम्मिलित नहीं किया जाता है। बेरोजगारी से देश का युवावर्ग सर्वाधिक प्रभावित होता है। भारत में बेरोजगारी दर निम्न है।[6]

वर्ष		बेरोजगारी दर	स्त्री	पुरुष
2015	—	3.49%	3.26%	4.19%
2016	—	3.51%	3.29%	4.16%
2017	—	3.52%	3.32%	4.16%

केन्द्र सरकार के आंकड़ों के अनुसार 31मिलीयन लोगों को नौकरियों की तलाश है।[7] रोजगार कार्यालय में पंजीकृत लोगों की संख्या है। जिसमें शिक्षित (उच्च शिक्षा) लोगों की संख्या सर्वाधिक है जो चिंता का विषय है।

बेरोजगारी अनेक सामाजिक समस्या जैसे– निर्धनता, भुखमरी, आत्महत्या, हिंस, भ्रष्टाचार व अनेक अपराधिक कृत्य को जन्म देती हैं। राष्ट्रीय अपराध ब्यूरो के अनुसार भारत मे आमहत्या करने वाले 40 प्रतिशत व्यक्ति किशोर व युवा वर्ग के बीच के होते हैं। इसमें पुरूषों की संख्या ज्यादा होती है। बेरोजगारी झेलते पुरूषों की संख्या सर्वाधिक रहती है। बेरोजगारी का प्रमुख कारण जनसंख्या वृद्धि के अनुपात में संसाधनों का विकास न होना क्योंकि जनसंख्या ज्यामितींय विधि से वह संसाधन गणितींय विधि से वृद्धि करती है।

शिक्षा की गुणवत्ता में कमी आना शिक्षित बेरोजगारी का प्रमुख कारण है।एक तरफ तो तकनीकी तौर पर योग्य व्यक्तियों के मध्य बेरोजगारी की कमी है, जबकि दूसरी तरफ अधिक संवृद्धि के लिए आवश्यक तकनीकी कौशल की कमी है।

आदर्श नेतृत्व का अभाव–

आदर्श नेतृत्व ही युवाओं को सही दिशा–निर्देश दे सकता है। पर जब नेतृत्व ही गलत हो भ्रष्ट हो तो युवा क्षमता का क्या दिशा सकारात्मक होगा। यह यक्ष प्रश्न है? किसी समय काल में युवाओं के आदर्श स्वामी विवेकानन्द, सुभाषचन्द्र बोस, रानी लक्ष्मीबाई आदि जैसे लोग या आस–पास के सफल व्यक्ति, वैज्ञानिक और शिक्षक रहे हैं। वर्तमान समय में युवा वर्ग के आदर्श फिल्म जगत, राजनीतिक, अपराध जगत से सम्बन्धित फिर भ्रष्ट अधिकारी या उद्योगपति होते है। फलस्वरुप ये अपने सांस्कृतिक प्रतिमानों व कर्मठशीलता को भूलकर अनैतिक मार्ग के द्वारा शीर्ष पर पहुँचने का प्रयास करते हैं। कभी देश के आजादी में महत्वपूर्ण भूमिका निभाने वाला युवावर्ग आवश्यकतानुसार नेतृत्व भी करता था । परन्तु वर्तमान युवावर्ग अपनी शक्तियों को विस्मृत कर, भ्रष्ट व्यक्तियों को आदर्श मानकर समाज विरोधी गतिविधियों में संलग्न है।

राजनीति–

राजनीतिक क्षेत्र में युवा वर्ग अपना वर्चस्व कायम करना चाहता है समाज को परिवर्तित करने का स्वप्न देखता है कर भी सकता है। लेकिन वर्तमान राजनीतिक व्यवस्था अत्यन्त दोषपूर्ण होने के कारण युवाशक्ति का प्रयोग शीर्ष नेताओं के द्वारा गलत दिशा में किया जाता है।

इसका प्रारम्भ कॉलेज व विश्वविद्यालय स्तर से ही हो जाता है। युवाओं को कच्चे माल के समान प्रयोग किया जाता है। इनकी भावनाओं को भड़काकर व्यवस्था के विरुद्ध निजी स्वार्थवश शीर्ष नेता युवावर्ग को विद्रोह के लिये प्रेरित करते हैं। फलतः अपराध और आतंकवाद का जन्म होता है।

युवाओं को मताधिकार 18 वर्ष की आयु से दे दिया गया है। पर उच्च पदों पर पहुँचने और निर्णय लेने के अधिकार को भ्रष्टाचार के आग में दमित कर दिया गया। युवाशक्ति का इस्तेमाल शीर्ष नेताओं के द्वारा अपने स्वार्थ हेतु मोहरों के रुप में प्रयोग किया जाता है।

इतिहास साक्षी है कि अनेक अन्दोलनों में युवाओं ने सक्रिय भूमिका निभायी है। पूर्व हुये आन्दोलनों के पीछे सार्थक उद्देश्य होता था परन्तु वर्तमान समय में होने वाले आन्दोलनों में सार्थक उद्देश्य का अभाव दिखता है, क्योंकि आज की युवापीढ़ी उद्देश्यहीनता और दिशाहीनता से ग्रस्त हैं इससे समाज में अव्यवस्था फैलने की सम्भावना बनी रहती है।

प्रशासनिक, न्यायिक अधिकारी राजनेताओं के द्वारा निजी स्वार्थपूर्ति हेतु अपने अधिकार क्षेत्र का गलत प्रयोग भी युवा असंतोष का कारण है।

युवा असंतोष के अन्य कारक असमानता, भ्रष्टाचार, संचारक्रान्ति का दुरुपयोग, चलचित्र मीडिया का गलत प्रयोग, पाश्चात्य सभ्यता का अन्धानुकरण आदि है। वर्तमान इलेक्ट्रानिक संचार माध्यम व मनोरंजन के साधन दोधारी तलवार के समान हैं। ये युवाओं को दिग्भ्रमित करने में महत्वपूर्ण योगदान देते हैं। ये युवाओं में आक्रोश, बिना परिणाम जाने त्वरित निर्णय लेने की क्षमता के भावनाओं को प्रोत्साहित करते हैं। परिणामतः बलात्कार, अपहरण, साइबर क्राइम, किशोर अपराध आदि अपराधिक घटनाओं में वृद्धि हो रही है। निम्न चार्ट से स्पष्ट है ।[8]

अपराध	वर्ष 2015	वर्ष 2016	वृद्धि दर
बलत्कार	3, 29, 243	3, 38, 954	2.9:
अपहरण	82, 999	88, 008	6.0:
साइबर क्राइम	11, 592	12, 317	6.3:
किशोर अपराध	33, 433	35, 849	7.2:

उपसंहार–

युवावर्ग को दिग्भ्रमित होने से रोकने के लिये सर्वप्रथम शिक्षा में पुरातन, भव्य और उत्कृष्ट परम्परागत मूल्यों का समावेश होना चाहिए। **डॉ0 राधाकृष्णन** के अनुसार श्भारत सहित सारे संसार में कष्टों का कारण है शिक्षा का संबंध नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों की प्राप्ति से ना रहकर केवल मस्तिष्क के विकास से रह गया है।ष्

शिक्षा को व्यवहारिक व रोजगारन्मुखी बनाना चाहिए। स्कूल स्तर से लेकर विश्वविद्यालयी स्तर तक शिक्षा प्रणाली में सुधार करें जिससे युवापीढ़ी में असंतोष न बढ़ सके। शिक्षा को हमें पूर्ण जीवन के नियमों और रंगों से परिचित कराना चाहिए। शिक्षा का सबसे महत्वपूर्ण कार्य हमें जीवन के लिए इस प्रकार तैयार करना है कि हम उचित प्रकार का व्यवहार कर सके और शरीर मस्तिष्क तथा आत्मा का सदुपयोग कर सके भारत सहित सारे संसार में कष्ट का कारण है कि शिक्षा का संबंध नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों की प्राप्ति से ना रहकर केवल मस्तिष्क के विकास से रह गया है।[9]

वर्तमान सरकार द्वारा प्रायोजित रोजगार योजनाओं को सही प्रकार से क्रियान्वयन होना चाहिये । जिससे ज्यादा से ज्यादा लोगों को लाभ पहुँचे। स्थानीय लघु व कुटीर उद्योग, कृषि सम्बन्धी उद्योगों को प्रोत्साहन देना चाहिये।

युवाओं में भटकाव को नियन्त्रित करने के लिये सभी आयु वर्ग के लोगों को पाश्चात्य सभ्यता के अन्धानुकरण पर अंकुश लगाना होगा। स्वस्थ, बौद्धिक व नैतिक, भारतीय संस्कृति के अनुरुप मनोरंजन के साधनों का प्रचार व प्रसार करना चाहिये।

दोषपूर्ण राजनीतिक व्यवस्था के स्थान पर स्वस्थ प्रजातन्त्र का विकास करना चाहिए जो सच्चे अर्थ में जनता का, जनता के द्वारा जनता का शासन हो। विश्वविद्यालय स्तर की राजनीति में राजनीतिक पार्टियों का प्रवेश निषिद्ध हो। कॉलेज व विश्वविद्यालय स्तर के चुनाव का उद्देश्य मात्र युवावर्ग में नेतृत्व क्षमता का विकास करना तथा शान्तिपूर्व ढंग से छात्रों के समस्याओं को सम्बन्धित अधिकारीगण को अवगत करना हो। शैक्षणिक संस्थानों में नियमों के उल्लंघन करने पर कठोर दण्ड की व्यवस्था हो।

देश के युवावर्ग में बढ़ता असंतोष राष्ट्र निर्माण के लिये चिंता का विषय है। इसे समाप्त करने के लिये आवश्यक है कि राजनीतिज्ञ व प्रमुख पदाधिकारी निजी स्वार्थ से ऊपर उठकर एकजुट होकर युवावर्ग के समस्याओं का समाधान करें उन्हें उचित दिशा–निर्देश दे, उनका पथ–प्रदर्शक बने।

भारत के युवाओं को एकजुट करके उनकी ऊर्जा शक्ति का सकारात्मक दिशा में लगाने का प्रयास वरिष्ठ नागरिकों को करना अपना कर्तव्य समझना चाहिए तभी सच्चे अर्थों में युवा भारत का सपना साकार होगा और हम 'विश्वगुरु' के पद आसीन होगें।

युवकों में जागरुकता लानी होगी। स्वामी विवेकानन्द के शब्दों में– ***"उठो जागो और तब तक नहीं रुको जब तक लक्ष्य प्राप्त न हो जाय।"*** युवाओं को चहुमुखी विकास के लिए प्रेरित करना होगा कि

जो तुम सोचते हो वो हो जाओगे यदि तुम खुद को कमजोर सोचते हो, तुम कमजोर हो जाओगे, अगर खुद को ताकतवर सोचते हो, तुम ताकतवर हो जाओगे।

☯☯☯

सन्दर्भ ..

1-mospi.nic.in/sites/default/files/publication_reports/Youth_in_India-2017.pdf.

2-mospi.nic.in/sites/default/files/publication_reports/Youth_in_India-2017.pdf.

3-mospi.nic.in/sites/default/files/publication_reports/Youth_in_India-2017.pdf.

4- http://mhrd.gov.in/sites/upload_files/mhrd/files/statistics/AISHE2017-18_0.pdf

5-https://www.zigya.com/share/U1NISEk5MDEzMDgO

6-https://www.theglobaleconomy.com/

7-https://timesofindia.indiatimes.com/

8- Crime In India 2016 Statics 30 Nov. 2017 press note source : Internate

9-Udyemaan Adhunik Bhartye Samaj Mein ShikshaBy Ramesh Prasad Pathak

https://books.google.co.in/books?

•••

किशोर और अपराध : एक समाजशास्त्रीय विवेचन

रत्नदीप जायसवाल,
शोध छात्र समाजशास्त्र विभाग,
महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी

किशोरावस्था विकास की वह अवस्था है जो तारुण्य से प्रारम्भ होती है और प्रौढ़ावस्था के उदय पर समाप्त होती है दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि किशोरावस्था, बाल्यावस्था तथा प्रौढ़ावस्था के मध्य का सन्धिकाल होता है। यह व्यक्ति के जीवन का सर्वाधिक उथल–पुथल का समय होता है। किशोरावस्था में जब शारीरिक बल और जोश अपनी चरम सीमा पर पहुँचते हैं, परन्तु विवेक इनके संयुक्त प्रभाव पर नियन्त्रण रखने के लिए परिपक्व नहीं होता, अपराध करने की प्रवृत्ति सबसे बलवती होती है किशोर आयु के व्यक्ति स्वभावतः चंचल और दुःसाहसी होते हें, अतः वे जीवन के विभिन्न प्रलोभनों की ओर शीघ्रता से आकर्षित होते हैं। इसी कारण वे आपराधिकता के शिकार आसानी से हो जाते हैं, परन्तु जैसा कि कहा जाता है कि आज का बालक कल का नागरिक होता है। अतः यदि उसकी अपचारिक प्रवृत्ति पर यथा समय नियन्त्रण नहीं रखा जाता, तो आगे चलकर उसके अभ्यस्त अपराधी बन जाने की सम्भावना को नकारा नहीं जा सकता।[1] प्रस्तुत अध्ययन द्वितीयक स्रोतों पर आधारित है।

एण्डरसन के अनुसार– 'किशोरावस्था वह अवस्था है, जिसमें व्यक्ति घर के क्षेत्र से बाहर निकलता है तथा मानसिक रूप से आत्मनिर्भर बनता है।'

आइजेक के अनुसार– 'किशोरावस्था वयः सन्धि के बाद की अवस्था है जिसमें व्यक्ति के अपने आत्म उत्तरदायित्व की स्थापना होती है।'

आज के किशोरों के विचारों और व्यवहारों पर अनेक कारकों का प्रभाव पड़ रहा है। इनमें से कुछ हैं– शिक्षा का अभाव, बढ़ती बेरोजगारी, युवकों के एक खण्ड की उपेक्षा करते हुए सरकार की आरक्षण नीति, माता–पिता द्वारा समुचित ध्यान न देना एवं सफल मार्गदर्शक का अभाव, प्रचार माध्यमों का अवांछित प्रभाव, शैक्षणिक संस्थाओं द्वारा मूल्यपरक शिक्षा देने में असफलता, सामाजिक प्रशिक्षण का अभाव, शारीरिक दोष, अत्यधिक भौतिकता व फैशन परस्ती तथा अपूर्ण आवश्यकताएँ इत्यादि।

इन परिवर्तनों के उदय के साथ यह अध्ययन करना आवश्यक है कि किशोर सामाजिक व वैधानिक प्रतिमानों से विचलित क्यों होते हैं? यह निर्विवाद सत्य है कि किशोरावस्था, बाल्यावस्था एवं प्रौढ़ावस्था के मध्य एक संक्रमण काल है, इसमें प्रविष्ट हो जाने पर बालक न तो बालक ही रह जाता है और न ही प्रौढ़। यह अवस्था बाल्यावस्था के अन्त में आरम्भ होती है तथा प्रौढ़ावस्था के प्रारम्भ तक होती है। अपनी विशिष्टि प्रकृति एवं महत्व के कारण किशोरावस्था के जीवन को सबसे कठिन काल माना जाता है।

इस अवस्था में बाल्यावस्था के प्रायः सभी शारीरिक व मानसिक विशेषताओं का लोप हो जाता है तथा इनके स्थान पर नवीन गुणों का आविर्भाव होने लगता है। किशोरावस्था के सन्दर्भ में एक परम्परागत विश्वास रहा है कि यह विकास की एक क्रान्तिक अवस्था है। इस अवस्था में किशोरों की रुचियों, व्यवहारों, शारीरिक दशाओं और संवेगों में परिवर्तन पाया जाता है, जिससे प्रमुख रूप से संवेगात्मक परिवर्तन अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच जाता है, जिसमें किशोरों पर नियन्त्रण रखना मुश्किल होता है इसीलए किशोरावस्था को भयानक किशोरावस्था कहा जाता है।

वैधानिक दृष्टिकोण से अपराध कानून का उल्लंघन है। यह वह व्यवहार है जिसे आपराधिक संहिता में निषिद्ध तथा दण्डनीय घोषित किया गया है। विवेचनागत अध्ययन की सुगमता हेतु अपराध की अन्य वैधानिक परिभाषाएँ जो अपराधशास्त्र एवं समाजशास्त्र के प्रमुख विद्वानों द्वारा प्रस्तुत की गयी है।

सदरलैण्ड एवं क्रेसी ने स्पष्ट किया है कि अपराधी व्यवहार वह व्यवहार है, जिससे अपराधिक कानून का उल्लंघन होता है। कोई भी कार्य कितना भी अनैतिकतापूर्ण निन्दनीय अथवा अनौचित्यपूर्ण क्यों न हो अपराध तब तक नहीं माना जा सकता जब तक कि उसे अपराधिक कानून के द्वारा निषिद्ध घोषित किया गया हो[2]।

हैकरवाल ने स्पष्ट किया है कि अपराध या किशोर अपराध का अर्थ व्यक्ति के ऐसे व्यवहार से है जो मानवीय सम्बन्धों की उस व्यवस्था में बाधा डालता है जिसे समाज अपने अस्तित्व के लिए आवश्यक समझता है।

सेथना ने स्पष्ट किया है कि एक कार्य अथवा गलती (भूल), पापमय या गैर–पापमय के रूप में दी जा सकती है जो सम्बन्धित देश के विशिष्ट समय पर लागू कानून के अन्तर्गत दण्ड योग्य है।[3]

इस प्रकार उपर्युक्त सभी परिभाषाओं का विश्लेषण किया जाए तो निष्कर्ष के रूप में यह कहा जा सकता है कि अपराध एक ऐसा कार्य है जिसे समूह पर्याप्त रूप से खतरनाक समझता है तथा ऐसी दण्डात्मक कार्यवाही की संस्तुति करता है जिससे अपराधी भयभीत होकर वैसा कार्य सम्पादित न करें।

भारतीय सन्दर्भ में किशोर अधिनियम (बाल अधिनियम, 1986) की धारा–2 के अनुसार उस किशोर को अपराधी किशोर माना गया है, जिसने कोई अपराधिक कार्य किया है। इस अधिनियम के अनुसार बालक अथवा किशोर का तात्पर्य 16 वर्ष से कम आयु का बालक तथा 18 वर्ष से कम आयु की बालिका है लेकिन वर्तमान समय में यह परिवर्तित होकर किशोर न्याय (बालकों की देख–रेख एवं संरक्षण) अधिनियम 2000 में प्रत्येक व्यक्ति जिसने 18 वर्ष की आयु पूर्ण नहीं किया है वह किशोर की श्रेणी में रखा जाएगा। इस अधिनियम का विस्तार जम्मू कश्मीर राज्य को छोड़कर सम्पूर्ण भारत पर है। इसे 30 दिसम्बर 2000 को राष्ट्रपति की स्वीकृति प्राप्त हुई तथा 1 अप्रैल 2001 से यह लागू किया गया। किशोर न्याय कानून में अपराधियों के लिए अधिकतम 3 वर्ष तक की सजा का प्रावधान है। दिल्ली गैंगरेप केस के बाद किशोर अपराधियों की उम्र 18 वर्ष से घटाकर 16 वर्ष करने पर विमर्श एवं बहस चली। इसी बीच किशोर न्याय अधिनियम (संशोधन) 2014 द्वारा गम्भीर अपराधों में संलिप्त 16 वर्ष से अधिक उम्र के किशोर अपराधियों पर सामान्य अदालतों में मुकदमा चलाने का फैसला जुवेनाइल जस्टिस बोर्ड पर छोड़ दिया गया है।[4]

किशोर अपराधियों के कृत्यों को इस प्रकार सम्मिलित किया गया है जिनमें प्रमुखतः किसी विधि नियम अथवा अध्यादेश की अवज्ञा, अनैतिक एवं अश्लील आचरण, कुख्यात स्थानों पर विचरण, वेश्यालयों एवं जुआघरों में संरक्षण, रात्रि में अनावश्यक सड़कों एवं गलियों में भ्रमण, मदिरालयों में संरक्षण, अनाधिकृत रूप से बिना टिकट रेल, बस यात्रा, घर अथवा विद्यालय से निरन्तर गायब रहना, सार्वजनिक स्थानों पर अश्लील भाषा का प्रयोग या आचरण करना, भिक्षा माँगना, धूम्रपान एवं मादक पदार्थों का सेवन करना, तथा अवैध व्यवसाय करना इत्यादि।

संज्ञेय अपराधों के लिए पकड़े गए किशोर अपराधी (सन् 2001 से 2016 तक)

भारतीय दण्ड संहिता (I.P.C)

वर्ष	लड़के	लड़कियाँ	योग
2001	21747	1850	23597
2002	23497	1519	25019
2003	22924	1785	24709
2004	23160	1580	24740
2005	23802	1577	25379
2006	25432	1467	26899
2007	28207	1564	29771
2008	29469	1493	30962
2009	26160	1776	28977
2010	26160	1311	27411
2011	29234	1532	30766
2012	33793	1672	35465
2013	37309	1456	38765
2014	41495	1071	42566
2015	42133	1182	43315
2016	44174	1096	45270

स्रोत : नेशनल क्राइम रिकार्ड ब्यूरो, गृह मन्त्रालय, भारत सरकार

एन.सी.आर.बी. के आँकड़ों के आधार पर वर्ष 2015 में जहाँ कुल 94172 मामले किशोरों के विरुद्ध दर्ज किए गए थे। वहीं 2016 में यह आँकड़ा बढ़कर 1.07 लाख तक पहुँच गया। (अर्थात् एक वर्ष में 11 फीसदी किशोर अपराध में वृद्धि) भारत में रोजाना 290 बच्चे विभिन्न अपराधों के शिकार हो रहे हैं।[5]

किशोर अपराध आधुनिक विश्व की एक गम्भीर विश्वव्यापी समस्या है। जबकि भारत के सन्दर्भ में किशोर अपराध की घटनाओं में उत्तर प्रदेश, महाराष्ट्र, बिहार व दिल्ली प्रमुख राज्य हैं। वहीं असम, त्रिपुरा, नागालैण्ड व उड़ीसा में इनकी संख्या अपेक्षाकृ

त कम है। उत्तर प्रदेश में वाराणसी, लखनऊ, प्रयागराज व आगरा इत्यादि जिलों में इनकी संख्या बहुत अधिक है। यद्यपि किशोर अपराध की प्रघटनाएँ आदिम काल से चली आ रही है, किन्तु वर्तमान औद्योगिक एवं नगरीय प्रवेश से सम्बद्ध सामाजिक एवं आर्थिक व्यवस्था जो नित्य नए संचार साधनों से ग्रसित होती जा रही है में किशोर अपराध की समस्या प्रचण्ड रूप धारण करती जा रही है। साथ ही सोशल मीडिया की भी महत्वपूर्ण भूमिका होती है।

किशोर अपराध को विभिन्न समाजशास्त्रियों, मनोवैज्ञानिकों एवं विधिशास्त्रियों ने अपने–अपने विषय को आधार बनाते हुए इसकी वैज्ञानिक रूप से तथा कुछ सामाजिक मापदण्डों के आधार पर व्याख्या की है। कानूनी रूप से किशोर अपराध की व्याख्या करते हुये स्पष्ट किया गया है कि जिसने कानून का उल्लंघन किया है, पुलिस द्वारा जिसकी गिरफ्तारी तथा बाल न्यायालयों द्वारा जिसकी दोष सिद्धि हुई है।[6]

कानून जिस कार्य को किशोर अपराध की श्रेणी में रखता है वही किशोर अपराधी है।[7]

सामाजिक दृष्टिकोण से किशोर अपराध को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि एक बालक को अपराधी तभी माना जाएगा जब वह ऐसे कार्य के लिए दोषी माना जाय जिससे एक समूह या समाज को हानि पहुँचे तथा ऐसे कार्यों के विरुद्ध कानूनी कार्यवाही करना आवश्यक है।[8] संयुक्त राष्ट्र की शंका जायज प्रतीत होती है क्योंकि किशोर अपराध ही वयस्क अपराध का प्रवेश द्वार है। उपरोक्त विद्वानों के अतिरिक्त किशोर अपराध को सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से आगबर्न एवं निमकॉफ, किम्बाल यंग, एच0एम0 जानसन, इमाइल दुर्खीम, सिगमण्ड फ्रायड, बेकर फैडरिक, थ्रैसर, क्लिफोर्ड शा, हेनरी मैके एवं क्वोवार्ड ओहलिन जैसे अपराधशास्त्रियों ने अपने अध्ययन का विषय बनाया।

बच्चे के बिगड़ने में परिवार एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है क्योंकि बच्चों पर बड़ों का काफी प्रभाव पड़ता है। परिवार में ऐसे अनेक कारक हो सकते हैं जैसे– बच्चे की ठीक प्रकार से देख–रेख न करना, बच्चे की आर्थिक आवश्यकताओं को न पूरा करना, बच्चे को ऐसे वातावरण में रखना जो वातावरण बच्चे को पसन्द न हो या परिवार का उसके प्रति शून्य रहना इत्यादि, जो कि बच्चे पर बुरा प्रभाव डालते हैं तथा वह किशोर अपराधी बन जाते हैं। किशोर अपराध के प्रमुख पारिवारिक कारक इस प्रकार हैं–

किशोर अपराधी की संख्या साधारण परिवारों की अपेक्षा टूटे हुए परिवारों में अधिक पायी जाती है। टूटे हुए परिवार से तात्पर्य ऐसे परिवार से है जिनमें माता–पिता अपने बच्चों के प्रति अपने कर्तव्यों को नहीं समझते। दुर्व्यसन परिवार वह परिवार होता है जहाँ पर एकता में कमी होती है तथा लड़ाई–झगड़ों के कारण मानसिक तथा संवेगात्मक तनाव व संघर्ष पैदा होते हैं। अपराधी प्रतिमानों वाले परिवार ऐसे होते हैं जहाँ पर अपराध को प्रोत्साहन दिया जाता है। माता–पिता स्वयं बच्चों को बेईमानी से पैसा लाने, चोरी करने, जुआ खेलने तथा शोषण करने का प्रशिक्षण देते रहते हैं। जिन बच्चों के माता–पिता बच्चों पर ध्यान नहीं देते, ऐसे परिवार में बच्चे दिनभर घर से बाहर रहते हैं और माता–पिता उनसे कुछ भी पूछने का साहस नहीं जुटा पाते जिससे वह आपराधिक संगति में संलग्न होकर अपराध कर बैठते हैं। अनैतिक परिवार से आशय ऐसे परिवार से होता है जिसमें परिवार का कोई सदस्य अनैतिक जीवन व्यतीत करता है। माता–पिता का चरित्र अगर दूषित है तो बच्चों का सामाजिकरण ठीक तरह से नहीं हो पाता है। यदि बच्चों को समाज द्वारा मान्य सामाजिक व्यवहारों के बारे में ज्ञान उपलब्ध नहीं कराते हैं तो वे बच्चे समाज में ठीक तरह से व्यवहार नहीं कर पाते जिससे वह समाज में सामन्जस्य स्थापित नहीं कर पाते हैं। किशोर अपराध तथा परिवार की आर्थिक स्थिति का घनिष्ठ सम्बन्ध होता है बच्चों की अनेक प्रकार की इच्छाएँ होती हैं वह समाज में ऐसी वस्तुएँ देखता है जो मन को मोह लेती है। जब सामान्य रूप से वह उन वस्तुओं को प्राप्त करने में विफल हो जाता है तो असामान्य ढंग से उन्हें प्राप्त करने का प्रयास करता रहता है तथा अपराधी बन बैठता है। औद्योगिक तथा नगरीय समाज में आवास एक गम्भीर समस्या है तथा परिवार के समस्त सदस्य को एक या दो कमरों में ही गुजारा करना पड़ता है। ऐसे परिवारों में पति–पत्नी को सहवास के लिए गोपनीयता नहीं मिल पाती तथा बच्चों के सामने सभी प्रकार की बाते होती रहती है जिससे उनके मस्तिष्क पर बुरा प्रभाव पड़ता है और वे अपराध की ओर उन्मुख हो जाते हैं।

शारीरिक एवं जैविक दोष भी किशोर अपराधी उत्पन्न करने में सहायक सिद्ध हुए हैं। प्रायः ऐसा देखने में आया है कि जो बच्चे शारीरिक रूप से विकृत होते हैं या जिनका शारीरिक विकास पूर्ण गति से विकसित नहीं हो पाता है, वे बच्चे अपराधी बन बैठते हैं। शारीरिक तथा व्यक्तिगत कारक भी किशोर अपराध के लिए उत्तरदायी हैं जो इस प्रकार हैं– जब बच्चे को पौष्टिक आहार नहीं मिल पाता है और तब वह अपने आपको कमजोर महसूस करने लगता है जिससे उसको आलस्य घेरे रहता है जिसके कारण वह स्कूल में अनुपस्थित रहता है इसी बीच अगर उसे आवारा बच्चों का सम्पर्क मिल जाए तो वह अपराधी बन बैठता है। शारीरिक हीनता एवं विकार से बच्चे को समाज में असफलता प्राप्त होती है और इस असफलता की क्षतिपूर्ति अपराध द्वारा की जाने लगती है। लम्बी बीमारी भी किशोर अपराध का एक महत्वपूर्ण कारक हो सकता है। रोगी बच्चे चिड़चिड़े स्वभाव के हो जाते हैं तथा उनका शारीरिक स्वास्थ्य भी ठीक नहीं रहता, बीमारी की स्थिति बालक को अपराधी बनने में मदद करती है। किशोर अपराध का एक कारक पैतृकता

भी है अर्थात् माता–पिता के गुण उनके सन्तान में हस्तानान्तरित होते हैं जिससे वह अपराधी बन बैठते हैं तथा कई बच्चों की मौलिक आवश्यकताएँ व आकांक्षाएँ पूरी नहीं हो पाती हैं, जिससे बच्चों में असन्तुलन की स्थिति पैदा हो जाती है तथा वे बुरी आदतों से अपनी इच्छा की पूर्ति करने का प्रयास करते हैं जिससे वे अपराधी बन जाते हैं।

अपराध के सामुदायिक कारक भी किशोर अपराध में सहायक होते हैं जो इस प्रकार हैं– गन्दा या बुरा पड़ोस भी किशोर अपराध को प्रोत्साहन देते हैं। भीड़ वाले स्थानों व गन्दी बस्तियों में किशोर अपराधियों की संख्या अपेक्षाकृत अधिक पायी जाती है। किशोर अपराधी उन परिवारों या क्षेत्रों में अधिक पाये जाते हैं जहाँ बच्चों को खेलने एवं मनोरंजन के स्वास्थ्यप्रद साधन उपलब्ध नहीं हो पाते हैं। अत्यधिक आर्थिक प्रतिस्पर्धा के कारण मानसिक चिन्ता व रोगों में वृद्धि हो जाती है। आवास की समस्या के कारण गन्दी बस्तियों का तीव्रता से विकास होने लगता है इन बस्तियों में अनैतिक कार्यों की भरमार होती है तथा आपत्तिजनक साहित्य भी किशोर अपराध का एक प्रमुख कारक माना गया है, अश्लील तथा यौन इच्छा भड़काने वाले चित्रों तथा चोर–डाकुओं की कथाओं का बच्चों पर बुरा प्रभाव पड़ता है जिससे वे किशोर, अपराध की ओर उन्मुख हो जाते हैं।

किशोर अपराध के सुधार एवं पुनर्वास हेतु प्रयास

बच्चे न केवल राष्ट्र की धरोहर है वरन् भविष्य में उन्हीं के कन्धों पर देश के आर्थिक, सामाजिक एवं राजनैतिक व्यवस्था का पूरा उत्तरदायित्व निर्भर रहेगा। राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर बच्चों के सर्वांगीण विकास और उन्हें देश का उपयोगी, जिम्मेदार नागरिक बनाने के लिए सदैव से ही प्रयास किए जाते रहे हैं। आजादी के पूर्व ब्रिटिश शासन काल में ''सुधार विद्यालय अधिनियम, 1876'' जिसे बाद में सन् 1897 में संशोधित किया गया। इसके बाद ''भारतीय दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1898'' की धारा 562 में विशेष रूप से बच्चों तथा युवा अपराधियो को सद्व्यवहार बनाए रखने के लिए परिवीक्षा पर रिहा करने का प्रावधान किया गया था। इस सम्बन्ध में 'इण्डियन जेल कमेटी, 1920' की रिपोर्ट के अनुसार युवा अपराधियों के लिए अलग से उपचार की आवश्यकता पर बल दिया गया था और इसके बाद 1920, 1922 एवं 1924 में बंगाल और मुम्बई की सरकारों द्वारा किशोर अधिनियम बनाए गए थे जिनका मुख्य उद्देश्य बच्चों की अभिरक्षा, संरक्षण एवं युवा अपराधियों को उचित उपचार प्रदान करता है। सन् 1960 में भारत सरकार द्वारा बाल अधिनियम, 1960 केन्द्र शासित क्षेत्र के लिए बनाकर उपेक्षित बच्चों के लिए बाल कल्याण बोर्ड की स्थापना की गयी जो केन्द्र शासित क्षेत्रों से सम्बन्धित थी। सन् 1986 में सर्वोच्च न्यायालय द्वारा स्पष्ट निर्देश जारी किए गए जिनका अनुपालन सुनिश्चित करने हेतु भारतीय सरकार द्वारा सम्पूर्ण देश के बच्चों के हित के लिए और उपेक्षित एवं अपचारी बच्चों की देखभाल, विकास तथा पुनर्वास के साथ–साथ बच्चों के लिए न्याय व्यवस्था के समुचित हेतु किशोर न्याय अधिनियम, 1986 संसद द्वारा पारित कराया गया। इस अधिनियम में बच्चों के लिए समुचित न्याय प्रणाली हेतु एक विधिक व्यवस्था को निर्धारित किया गया है। सुरक्षात्मक एवं पुनर्वास की बेहतर सुविधाएँ प्रदान करने के उद्देश्य से वर्ष 2000 में संशोधित किया गया। संशोधित अधिनियम को किशोर न्याय (बालकों की देख–रेख एवं संरक्षण) अधिनियम, 2000 कहा गया। केन्द्र सरकार के सामाजिक न्याय एवं अधिकारिता मन्त्रालय द्वारा उपेक्षित एवं अपचारी बच्चों के लिए किशोर गृहों, विशेष गृहों, प्रेक्षण गृहों तथा अनुरक्षण संस्थानों के निर्माण और रख–रखाव के लिए सभी राज्यों और केन्द्र शासित प्रदेशों को आर्थिक सहायता भी उपलब्ध करायी जाती है। किशोर न्याय (बालकों की देख–रेख एवं संरक्षण) अधिनियम, 2000 में वर्णित किशोर का तात्पर्य उस बालक या बालिका से है जिसने 18 वर्ष की आयु पूर्ण नहीं की है। 'किशोर' का तात्पर्य वह बालक जिसका कोई निवास स्थान न हो, जिस व्यक्ति के पास वह रहता है वह उसे चोट पहुँचाने की धमकी देता रहता है या उसके साथ दुर्व्यवहार करता हो। किशोर न्याय अधिनियम की धारा 5 के अन्तर्गत राज्य सरकार की अधिसूचना द्वारा किसी क्षेत्र के लिए एक या एक से अधिक न्यायालयों की व्यवस्था की गयी है। जिसमें प्रथम वर्ग का न्यायिक मजिस्ट्रेट होगा जिसे दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1973 के अनुसार प्रथम वर्ग न्यायिक मजिस्ट्रेट की प्रदत्त शक्तियाँ प्राप्त होती हैं। किशोर अपराधियों के गिरफ्तार होने के बाद पुलिस शीघ्र ही उसके माता–पिता को खबर कर देती है ताकि वे किशोर न्यायालय में उपस्थित हो सकें।[9] यदि कोई किशोर 16 वर्ष का आयु पूर्ण कर लिया हो और जिसने कोई गम्भीर अपराध किया है जिसके कारण उसे विशेष गृहों में अन्य किशोरों के साथ नहीं रखा जा सकता। तो ऐसे समय उसे अलग से किसी विशेष स्थान पर सुरक्षित रखने की व्यवस्था की गयी है। ऐसे समय राज्य सरकार कुछ ऐसे शर्तों को रख सकता है जिसे वह उस किशोर के लिए सही समझता है। किशोर न्याय अधिनियम के अन्तर्गत राज्य द्वारा किशोर कल्याण परिषद के गठन की व्यवस्था की गयी है जिसमें उपेक्षित तथा अपचारी किशोरों के सम्बन्ध में उनके कल्याण एवं उन्हें किशोर गृहों में रखने एवं अपेक्षित जाँच करने के बारे में अभिभावक की अभिरक्षा में देने के बारे में अपेक्षित आदेश के प्रावधान हैं।[10]

किशोर संरक्षण के संवैधानिक प्रयास

- संविधान के अनुच्छेद 15(3) में बालकों के लिए विशेष उपबन्ध करने का प्रावधान है।

- संविधान के अनुच्छेद 21 के अन्तर्गत किसी कार्यवाही में सम्मिलित बालकों, किशोरों के नाम एव ंपते प्रकाशित नहीं किए जा सकेंगे।
- अनुच्छेद 24 में 14 वर्ष से कम आयु के बच्चों को कारखानों तथा अन्य प्रकार के जोखिम युक्त कार्यों में सेवा नियोजित किये जाने को निषिद्ध किया गया है।
- अनुच्छेद 36(च) के अन्तर्गत बच्चों को स्वतन्त्र एवं गरिमामय वातावरण में स्वस्थ विकास के अवसर व सुविधाएँ दी जाए।
- अनुच्छेद 45 में यह प्रावधान किया गया है कि राज्य 14 वर्ष तक की आयु के बच्चों के लिए निःशुल्क एवं अनिवार्य शिक्षा का प्रबन्ध करेगा।

लैंगिक अपराधों से बालकों का संरक्षण अधिनियम (पास्को), 2012

हमारे संविधान के अनुच्छेद 15(3) में बालकों के लिए विशेष उपबन्ध करने का प्रावधान है। इसलिए बालकों को लैंगिक हमला, लैंगिक उत्पीड़न एवं अश्लील साहित्य के अपराधों से बचाने एवं ऐसे अपराधों पर विचारण हेतु विशेष न्यायालय की स्थापना करने के उद्देश्य से पास्को कानून को लागू किया गया है। इस अधिनियम में कुल 46 धाराएँ हैं विशेष न्यायालयों में मामलों का विचारण बन्द कमरे में करने का प्रावधान है। बालकों के विरुद्ध लैंगिक हमले जैसे अपराधों के लिए न्यूनतम सात वर्ष से लेकर आजीवन कारावास तक की सजा तथा जुर्माने का भी प्रावधान किया गया है।

किशोर अपराध का समाज पर पड़ने वाले नकारात्मक प्रभाव

किशोरों में आपराधिक प्रवृत्ति दिन–प्रतिदिन बढ़ रही है। देश भर में आज लगभग 17 लाख किशोर विभिन्न आपराधिक मामलों में आरोपी हैं। सामाजिक भटकाव के कारण बड़ी संख्या में किशोर, चोरी, हत्या, हत्या का प्रयास तथा दुष्कर्म जैसे अपराधों को अन्जाम दे रहे हैं। पिछले एक दशक में किशोर अपराध की प्रघटनाओं में 170 फीसदी की वृद्धि हुई है। इस प्रकार किशोरों के मानसिक भटकाव के लिए हमारा समाज और विषाक्त आस–पास का माहौल बराबर दोषी है।

निष्कर्ष एवं सुझाव

अन्त में यह उल्लेख कर देना पर्याप्त होगा कि अधिकांश किशोर परिस्थितिवश अपराधी बन जाते हैं न कि स्वेच्छा से। अतः यदि उन्हें प्रतिकूल परिस्थितियों तथा विषाक्त वातावरण से दूर रखा जाए या उनकी प्रतिकूल परिस्थितियों को सुधारा जाए, तो उन्हें अपराधी बनने से बचाया जा सकता है। अपराध निरोध में पारिवारिक संगठन का विशेष महत्व है, वास्तव में किशोर अपराध को रोकने के लिए परिवार का बड़ा योगदान है। यदि परिवार बच्चे की उचित देख–रेख करें, बच्चे का समाजीकरण भी उचित प्रकार से हो तो, तथा माता–पिता का नियन्त्रण सही प्रकार से रहे तो इसे रोका जा सकता है।

विद्यालय तथा शिक्षकों को भी किशोर अपराध को रोकने के लिए इस प्रकार के कार्य करने चाहिए–

बालकों की मनोवृत्तियों का विशेष रूप से अध्ययन किया जाना चाहिए तथा पारस्परिक सहयोग की भी शिक्षा देनी चाहिए, विद्यालयों में ऐसा वातावरण विकसित करना चाहिए जिससे कि बालक दूसरों के गुणों को ग्रहण कर सके, पाठ्य सामग्री सरल बनाने का प्रयास भी इस दिशा में उचित होगा तथा विद्यालय का वातावरण इतना रोचक एवं स्वास्थ्यप्रद बना देना चाहिए कि बच्चे स्कूल में अनुपस्थित ही न रहें। साथ ही साथ सरकारी एवं गैर सरकारी संगठनों के प्रकार की योजनाओं का निर्माण करना चाहिए साथ ही वे योजनाएँ इतनी विस्तृत हों कि उनके स्थायी परिणाम मिले और उनमें कुछ ऐसी भी योजनाएँ हो, जिनका त्वरित रूप से क्रियान्वयन किया जाए। किशोर अपराध की बढ़ती समस्या पर नियन्त्रण पाने हेतु पूर्व में किए गए कार्यों का मूल्यांकन करना एवं कमियों को दूर करना ही होगा साथ ही साथ यह भी ध्यान रखना होगा कि इस समस्या से निजात पाना अथवा नियन्त्रण करना केवल सरकार का कार्य नहीं है अपितु हमारा भी उतना ही कर्तव्य है जितना सरकार का। हमारा सामाजिक परिवेश दिनोदिन आधुनिक रूप में बदलता जा रहा है। संयुक्त परिवार के विलोप के कारण बच्चे परम्परागत पालन–पोषण से दूर हो रहे हैं। आज के कथित आधुनिक बच्चे अपने माता–पिता या दादा–दादी के पास जाकर बात करने या कहानी सुनने के बजाय सोशल मीडिया पर चैटिंग करना ज्यादा पसन्द कर रहे हैं। कहीं न कहीं इस विषैले सामाजिक परिवेश में छोटे–छोटे बच्चों का वास्तविक बचपन भी छिनता जा रहा है। इसे अभिभावक भी नजर अन्दाज कर रहे हैं पर असर यह है कि अभिभावकों के संरक्षण के अभाव में कम उम्र में ही बच्चों को वीडियोगेम्स, टी0वी0, इण्टरनेट आदि के माध्यम से नशाखोरी और पोर्नोग्राफी की लत लग रही है। टी0वी0, सिनेमा और मोबाइल की सुलभता, छोटी उम्र से ही किशोरों में भोगवाद, तनाव, ईर्ष्या और अवसाद की स्थिति को जन्म दे रही है ऐसे में दोषी केवल किशोर ही नहीं हैं बल्कि सम्बन्धित माता–पिता व पूरा समाज दोषी है। नैतिक शिक्षा को एक विषय के रूप में पाठ्य पुस्तक में शामिल करने की चर्चा तेज होनी चाहिए लेकिन क्या यह काफी है ? क्या इसकी शुरूआत मानव जीवन के प्रथम पाठशाला यानि घर से ही नहीं

की जानी चाहिए ? अब भी समय है, पुनः इस पर गम्भीरता से मनन करें और संयुक्त परिवार की प्राचीन परम्परा को सुदृढ़ बनाए तभी इस संकट से भारत में ही नहीं अपितु पूरे विश्व में इस पर नियन्त्रण सम्भव है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. परांजपे ना0वि0, अपराधशास्त्र एवं दण्डशास्त्र, सेण्ट्रल लॉ पब्लिकेशन, दरभंगा कॉलोनी, इलाहाबाद, पृ0 426–427
2. Sutherland, Edwin H. (1939), Criminology (12th Ed.), New York : Lippincott, P. 19.
3. महाजन धर्मवीर व महाजन कमलेश, अपराधशास्त्र, विवेक प्रकाशन, जवाहर नगर, दिल्ली, पृ0 44–45
4. Singh, S.D. (2001), Principal of Criminology, Indore : Kamal Prakashan, P. 164-170.
5. Ahuja, Ram (2000) Social Problem in India, Jaipur : Rawat Publication, P. 84.
6. Reckless W.C. (1970), The Crime Problem, New York, P. 45
7. Rubin, S. (1949), Crime and Juvenile Delinquency, New York : McGraw hill book, P. 50.
8. Haikar, B.S. (1939), Social and Economic aspect of Crime in India, London : George Allen and Unwin, Ltd., P. 61
9. Singh, S.D. (2001), Principal of Criminology, Indore : Kamal Prakashan, P. 171-174.
10. कुरुक्षेत्र, (2005) 52(1), नवम्बर, पृ0 27

•••

परित्यक्त अप्रवासी भारतीय महिलाओं की सामाजिक समस्यायें

धर्मेन्द्र कुमार,
शोधछात्र समाजशास्त्र विभाग,
महात्मा गांधीकाशी विद्यापीठ, वाराणसी

सुखद या सफल वैवाहिक जीवन एक सुखी परिवार का आधार है। यह ऐसा पवित्र बन्धन है, जिस पर आगे की सन्तति का भविष्य निर्भर करता है, लेकिन यही दाम्पत्य जीवन तब दुःखमय बन जाता है, जब पति–पत्नी के बीच सम्बन्धों में दरार पड़ जाती है। आज की जटिल जिन्दगी में ऐसी न जाने कितनी समस्यायेंह ैं और उनके न जाने कितने पहलू हैं। कहीं पति की ज्यादती तो कहीं पत्नी की फूहड़ता या लड़ाकूपन। कहीं दूसरे पुरुष की उपस्थिति तो कहीं दूसरी स्त्री की। कहीं सचमुच चरित्र स्खलन तो कहीं शक से ही जिन्दगी दूभर। कहीं आर्थिक झगड़े तो कहीं केवल अपने अहम का टकराव।

तलाक कानून बन जाने पर अनचाही स्थितियों को ढोने या हर कीमत पर निभाने की स्थिति नहीं रही है। कानून का सदुपयोग या दुरुपयोग के रास्ते तो खुले ही है। अलग हो आने के फिर यह अलगाव परस्पर सहमति से हो या बदले की भावना से, एक–दूसरे को तंग करके। सीधी–सीधी भाषा में जब पति–पत्नी का साथ रहना दूभर हो जाय तो उनका वैधानिक रीति से अलग हो जाना जाना तलाक कहलाता है, यू बिना अदालती यि भी पति–पत्नी अलग रहते हैं यथा रह सकते हैं, तो उसे बिलगाव या परित्याग कहेंगे, तलाक नहीं।

व्यापक सामाजिक विघटन से इस संक्रमणकारी दौर में पुराने मूल्य व आदर्श बिखर रहे हैं। पारस्परिक धार्मिक आस्थाएँ जिनके अनुसार विवाह एक पवित्र बन्धन है, प्रायः समाप्त हो रही हैं और नये मूल्य अभी भारतीय आधार पर ठीक से गढ़े नहीं गये हैं, जो सामने आये हैं उनका कथित मूल्यों के साथ भी हमारा मानसिक समायोजन नहीं हो पा रहा है। यहीं कारण है कि संयुक्त परिवार के अब एकाकी परिवार बिखर रहे हैं और तलाक बढ़ रहे हैं।

विवाह व परिवार स्त्री व पुरुष दोनों के लिये जरूरी है। स्त्री के लिये वह बहुत जरूरी है। यह इसलिये माना गया है कि इसके बिना समाज में न उसकी प्रतिष्ठा है न ही सुरक्षा। वर्तमान परिवर्तित समाज का दृष्टिकोण भी इस मामले में विशेष परिवर्तित नहीं हुआ है। इसलिए अखिल भारतीय महिला परिषद की कार्यकत्रियों ने जब शुरू से तलाक का प्रारूप प्रस्तुत किया था तो उसमें कठिन शर्तें जुड़वायी थी, कि बहुत ही विवशता में इसका उपयोग किया जाये कि परिवार न टूटे और स्त्रियों व बच्चों की असुरक्षा न बढ़े, पर कठिन शर्तों के साथ अनिवार्य तलाकों में इतनी देर लगने लगी कि लम्बे मुकदमें की अवधि में तंग आकर या तो उन्होंने कार्यवाही बीच में बन्द कर दी या फैसला आने तक तलाकशुदा पति–पत्नी की आयु इतने आगे बढ़ गयी कि उसके बाद उनकी शादी होने में अड़चने आयी हैं।

पति–पत्नी का बिना तलाक के अलग रहने की स्थिति अलगाव या परित्याग कहलाती है तथा उस महिला को परित्यक्त महिला कहते हैं। सामाजिक गतिशीलता के कारण भारत में दिन–प्रतिदिन बिलगाव की संख्या में वृद्धि हो रही है। परित्यक्त महिलओां की सबसे अधिक संख्या में बढ़ोत्तरी अप्रवासी भारतीय (N.R.I) के द्वारा हो रही है। अप्रवासी भारतीय भारत में आकर पारिवारिक दबाव के कारण भारतीय लड़कियों से विवाह कर लेते है। और वापस विदेशों में जाकर विवाहित महिला के साथ अभद्रता करते हैं तथा उनको विभिन्न प्रकाउर से प्रताड़ित करते हैं जिससे बिलगाव की स्थिति उत्पन्न हो रही है। बहुत से बिलगाव के प्रमुख कारण अप्रवासी भारतीय पति का अन्य स्त्रियों के साथ अवैध सम्बन्ध या दूसरे विवाह के कारण होता है। महिलाओं को भारतीय मूल के पतियों द्वारा परित्याग कर देने की घटना कोई नहीं है। पहले भी अनिवासी भारतीय अपने परिवार के दबाव में आकर द्वि–विवाह करते रहे हैं। अनिवासी भारतीय पति विदेशी महिला के साथ अपने विवाह को छुपाने की कोशिश करते हैं और भारत की यात्रा पर आने पर अपने माता–पिता के दबाव में आकर उनके द्वारा पसन्द की गयी लड़की से विवाह कर लेते हैं, जिसकी परिणति कुछ समय पश्चात् विवाहित महिलाओं को परित्यक्त कर देने के रूप में होती है।

अनिवासी भारतीय पति के लिए ऐसा कर पाना लड़की के माता–पिता के अभारपूर्ण व्यवहार से और अधिक आसान हो जाता है, जो एक विदेशी दामाद पाने के अपने लोभ से दबे रहते हैं।

परित्यक्त महिलाओं की सामाजिक समस्यायें

समस्या न केवल भारत में परित्यक्त कर दी गयी महिला से है, बल्कि इसमें दहेज की मांग, निर्दयतापूर्ण व्यवहार विभिन्न प्रकार के उत्पीड़न का शिकार बनाना और महिला का विदेश में परित्याग करना या अकेले छोड़ देना, विवाह का निष्पादन नहीं करना,

पहले से विद्यमान विवाह को छुपाना, एक तरफा तलाक आदि जैसी समस्यायें सम्मिलित है। अनिवासी भारतीय/प्रवासी भारतीयों के साथ विवाह सम्बन्ध में परित्यक्त भारतीय महिला परित्याग या उसे अकेले छोड़ने से सम्बन्धित स्वरूप (पैटर्न) निम्नलिखित तीन श्रेणी में आते हैं–

1) विदेश में अपने पति के साथ रह रही महिला को अचानक यह पता चले की उसे उसका पति असहाय छोड़कर गायब हो गया है।

2) अपने पति के साथ विदेश मे रह रही महिला को या तो बहलाकर या तो बाध्य करके भारत लाया जाय और यहाँ पर पासपोर्ट, वीजा के बिना व किसी धन के बगैर अकेले छोड़े दिया जाय, जिससे कि उसके पास अपने पति से दोबारा मिलने का कोई रास्ता उपलब्ध न हो।

2) भारत में विवाहित महिला को विवाह के पश्चात् उसका पति उसे छोड़कर विदेश चला गया हो, किन्तु उसने अपने पत्नी को अपने पास बुलाने के लिए वीजा हेतु प्रत्याभूति (स्पान्सरशिप) न ीाजी हो।

परित्यक्त प्रवासी भारतीय महिलाओं की सामाजिक सुरक्षा हेतु सरकारी तथा गैर सरकारी प्रयास

प्रवासी भारतीय मामले के मन्त्रालय ने प्रवासी भारतीय से विवाह के सम्बन्ध में मार्ग निर्देशन पुस्तिका जारी की है इस पुस्तिका में प्रवासी भारतीय पतियों द्वारा परित्यक्त महिलाओं की उपलब्ध सुरक्षा, उपलब्ध कानूनी उपाय शिकायतों की सुनवायी के लिए सम्पर्क किये जा सकने वाले अधिकारियों के बारे में सूचना दी गयी हैं। प्रवासी भारतीय के साथ अपनी बेटी के विवाह के बारे में सोच रहे हैं। नामक एक पम्पलेट भी मन्त्रालय ने जारी किया है। इस पम्पलेट में विवाह पूर्व एहतियाती बिन्दुओं को रेखांकित किया गया है। प्रवासी विवाह सम्बन्धी मुद्दे से निपटने के लिये राष्ट्र स्तरीय समन्वय एजेन्सी महिला आयोग (N.C.W.) ने भी – प्रवासी विवाह से सम्बन्धित समस्यायें क्या करें– क्या न करें। नामक पम्पलेट जारी किया है। इस पम्पलेट में प्रवासी विवाह से सम्बन्धित समस्याओं के बारे में बताने के साथ ही उन महिलाओं के लिए एहतियाती क्या करें क्या न करें के बारे में जानकारी दी गयी है जो किसी अप्रवासी भारतीय अथवा भारतीय मूल के व्यक्ति के साथ विचार कर रही है। N.C.W.ने प्रवासी विवाह से सम्बन्धित समस्याओं पर द नो व्येर ब्राइड्स शीर्षक से एक रिपोर्ट भी जारी की है।

इसके अलावा परित्यक्त या तलाकशुदा महिला भारतीयों को मिशों, पोस्टों के द्वारा कानूनी वित्तीय सहायता प्रदान करने के लिये वर्ष 2007 में एक योजना भी लागू की गयी थी। इसमें संशोधन किया गया और नवम्बर 2011 से संशोधित योजना प्रभावित हुई। यह योजना उन भारतीय महिलाओं के लिये हैं, जिन्हें उनके प्रवासी भारतीय/विदेशी पति द्वारा परित्यक्त कर दिया गया है अथवा जो विदेश में तलाक प्रक्रिया का सामना कर रही है इस सम्बन्ध में निम्नलिखित शर्तें भी हैं–

1) महिला का विवाह भारत या विदेश में प्रवासी भारतीय अथवा से जुड़ा हो।

2) विवाह के 15 वर्ष के भीतर महिला को भारत अथवा विदेश में परित्यक्त किया गया हो।

3) महिला के प्रवासी भारतीय पति द्वारा ।15 वर्षों के भीतर तलाक प्रक्रिया शुरू कर दी गयी हो।

4) प्रवासी भारतीय/विदेशी पति द्वारा विवाह के 20 वर्षों के भीतर एक तरफा तलाक किया गया हो।

अनिवासी भारतीय प्रकोष्ठ (**N.R.I.**)

राष्ट्रीय आयोग महिला को अनिवासी भारतीय पतियों द्वारा परित्यक्त भारतीय महिलाओं की दुर्दशा विषय पर महिला सशक्तिकरण सम्बन्धित संसदीय समिति (14वी लोकसभा) की सिफारिशों के आधारपर चर्चा एवं विचार–विमर्श किया गया।

अप्रवासी भारतीय (N.R.I.) विवाहों से सम्बन्धित मुद्दों से निपटने के लिये प्रवासी भारतीय कार्य मन्त्रालय के दिनांक 28 अप्रैल 2009 के पत्र संख्या– ओ0 आई– 19021/3/2006 एस0एस0 के माध्यम से भारत सरकार द्वारा राष्ट्रीय महिला आयोग को राष्ट्रीय स्तर पर समन्वयकर्ता एजेन्सी के रूप में नामित किया गया। अन्तर्देशीय विवाहों के फलस्वरूप भारत से तथा विदेशों से प्राप्त ऐसी शिकायतों, जिसमें महिलाओं के अधिकारों की कोई वंचना अथवा महिलाओं के साथ गम्भीर अन्याय की कोई वंचना अथवा महिलाओं के साथ गम्भीर अन्याय से निपटने के लिए राष्ट्रीय महिला आयोग 21 दिसम्बर 2009 को अनिवासी भारतीय प्रकोष्ठ का औपचारिक रूप से उद्घाटन किया गया।

इसके प्रारम्भ से आयोग के अनिवासी भारतीय प्रकोष्ठ ने 31 मार्च 2013 तक लगभग 1316 शिकायतें पंजीकृत की गयी है। वर्ष 2013–14 के दौरान आयोग के अनिवासी भारतीय प्रकोष्ठ में 375 मामले पंजीकृत किये गये हैं।

अप्रवासी पतियों (**N.R.I.**) द्वारा परित्यक्त/तलाकशुदा भारतीय महिलाओं की कानूनी सुझाव

विदेशी पतियों द्वारा भारतीय महिलाओं को छोड़ने से सम्बन्धित मुद्दे जटिल और संवेदनशील हैं। ये अन्तर्राष्ट्रीय निजी कानून के दायरे में भी आते हैं। इस मुद्दे से निपटने के लिये मन्त्रालय सम्भावित बहुओं व उनके परिवारों के बीच उनके अधिकारों व

उनके उत्तरदायित्वों तथा विदेशों में रहने वाले युवकों के साथ विवाह के बन्धन में जुड़ने के समय अपनाये जाने वाली सुरक्षा उपायों के बारे में जागरूकता फैला रहा है।

यह योजना उन महिलाओं के लिये उपलब्ध नहीं है जिनके खिलाफ अपराधिक मामला है। इस स्थिति में अभिभावक द्वारा बच्चे के अपहरण के आपराधिक आरोप से छूट प्राप्त है। बशर्ते बच्चों की रखवाली के बारे में न्यायालय द्वारा निर्णय न दिया गया हो। इसके तहत विकसित देशों में प्रति मामले पर 3000 अमेरिकी डॉलर व विकासशील देशों में 2000 अमेरिकी डॉलर की सहायता राशि की सीमा है।

इस राशि को आवेदक के सूचीबद्ध कानूनी वकील अथवा भारतीय सामुदायिक संघ/महिला संगठन/महिला को सहायता प्रदान करने वाले स्वयं सेवी संगठन को प्रदान किया जायेगा ताकि मामला दायर करने में दस्तावेजों की तैयारी के लिए महिला को सहायता दी जा सके।

प्रवासी भारतीय मामले के मन्त्रालय ने प्रवासी भारतीयों विवाह करने वाली भारतीय युवतियों के लिए एक शैक्षणिक जागरूकता अभियान शुरू किया है, जिनके तहत मैरिजिस टू ओवरसीज इण्डियन नामक अंग्रेजी, हिन्दी, तेलगू, मलयालम व पंजाबी भाषा में एक निर्देश पुस्तिका प्रकाशित की है। इस पुस्तिका में या पत्रिका में प्रवासी भारतीयों द्वारा परित्यक्त महिलाओं की सुरक्षा से सम्बन्धित जानकारी, कानूनी सलाह, शिकायतों का निवारण करने वाले प्राधिकारी वर्ग तथा गैर सहायता प्राप्त संगठनों से सम्बन्धित जानकारी दी गयी है।

निष्कर्ष

महिलाओं के साथ हिंसा निश्चित तौर पर समाज में महिलाओं की निम्न स्थिति का परिचायक है। महिलाओं के साथ भेदभावपूर्ण व्यवहार का एक अन्य रूप विवाहित महिलाओं को अनिवासी भारतीय पतियों द्वारा परित्यक्त कर देने के रूप में प्रदर्शित होता है, जो भारत में प्रमुख रूप से पंजाब, गुजरात व केरल राज्यों में दिखायी देता है। इनमें से अधिकांश विवाह अत्यधिक जल्दबाजी में सम्पन्न कराये जाते हैं, जिनकी समाति एक हनीमून विाह के रूप में हो जाती है तथा ऐसे विवाह में वर उसके परिवार के रूप में प्रायःकोई प्रतिबद्धता या वचनबद्धता दिखाई नहीं पड़ती।

अप्रवासी भारतीय (N.R.I.) वर द्वारा उपेक्षा, प्रताड़ना तथा दुर्दशा का दंश झेल रही भारतीय युवतियों की समस्या काफी चिन्ताजनक है। सरकार की नीतियों व कानूनी प्रक्रियाओं में ढीलेपन के चलते बिगड़ैल रईसजादे अब तक हजारों युवतियों से विवाह रचाकर उनके जीवन को नारकीय बना चुके हैं। इस समस्या के जहाँ कानूनी पहलू हैं, वहीं यह एक सामाजिक समस्या बनी हुई है।

इस प्रवृत्ति पर कानूनी व्यवस्था असरदार नहीं है, लेकिन किसी हद तक इसके लिये सामाजिक महत्वाकांक्षी भी होती हैं। एक तो विदेशों में रहने वाले पति के बारे में पुख्ता व सटीक जानकारी नहीं मिलती, दूसरे उन देशों की सरकारें भी इन मामले में पर्याप्त सहयोग नहीं देती। विदेशों में बसने का मोह तथा चकाचौंध करने वाली समृद्धि की लालसा ने लड़कियों के अभिभावक भी विदेशी दूल्हे की गहन जाँच–पढ़ताल नहीं करते वे मानकर चलते हैं कि विदेश से आने वाला युवक सर्वगुण सम्पन्न व ईमानदार होगा। यही अन्धविश्वास बाद में चलकर छल का कारण बन जाता है। यही वजह है कि आज अकेले पंजाब राज्य में हजारों विवाहित युवतियाँ वर्षों से अपने पतियों की राह देख रही है। यह एक सामाजिक त्रासदी है, जिसका निराकरण सामाजिक व कानूनी स्तर पर बेहद जरूरी है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1) आशारानी ब्होरा, भारतीय नारी : अस्मिता व अधिकार
2) राष्ट्रीय महिला आयोग, वार्षिक रिपोर्ट 2013–14 पुस्तिका अध्याय– 10, पृ0 137
3) वर्षान्त समीक्षा 2017 पत्र सूचना कार्यालय भारत सरकार, प्रवासी भारतीय मामले के मन्त्रालय, 31 दिसम्बर 2014
4) सम्पादकीय :सख्त कानून की दरकार, दैनिक ट्रिब्यून, पंजाब जून 04, 2012
5) पाल, ओ0पी0, प्रवासी दुल्हानें की सुध लेगी सरकार, समाचार पोस्ट 17 जनवरी 2014

●●●

व्यावसायिक शिक्षा की चुनौतियाँ

डॉ0 चमन कौर
असिस्टैन्ट प्रोफेसर, बी0एड0 विभाग एल,बी0 एस0 पी0जी0 कालेज गोंडा

किसी भी राष्ट्र के विकास और समृद्धि के लिए सबसे महत्वपूर्ण तत्व शिक्षा है। सामान्यतः शिक्षा को दो वर्गों में विभाजित किया जाता है– सामान्य और व्यावसायिक। जिस शिक्षा द्वारा मनुष्यों को भाषा, साहित्य, धर्म, दर्शन, इतिहास, भूगोल, अर्थशास्त्र, राजनीतिशास्त्र और समाजशास्त्र आदि सामान्य विषयों का ज्ञान कराया जाता है उसे सामान्य शिक्षा कहते हैं और जिस शिक्षा द्वारा उन्हें किसी व्यवसाय अर्थात् अर्थोपार्जन के साधन–कृषि, पशुपालन, बढ़ईगिरी, लुहारगिरी, कताई–बुनाई, रंगाई, वास्तुकला, वाणिज्य, वैद्यक, डॉक्टरी, हकीमी, वकालत, शिक्षण कार्य, कपड़ा उद्योग, धातु उद्योग, कोयला उद्योग और पैट्रोलियम उद्योग आदि में निपुण किया जाता है उसे व्यावसायिक शिक्षा कहते हैं।

भारत में आधुनिक व्यावसायिक शिक्षा की नींव अंग्रेजों ने रखी थी, स्वतन्त्र होते ही हमनें इसका प्रसार शुरू किया। एक स्थिति ऐसी आई कि उसका विस्तार तो हो गया परन्तु उसका स्तर गिर गया, यह उद्देश्यहीन हो गई। तब हमने उसमें सुधार की प्रक्रिया शुरू की और उसकी अनेक समस्याओं का समाधान किया। कुछ समस्याएं जिनका हमने सफलतापूर्वक हल खोजा वे हैं–

1. अब इस शिक्षा के उद्देश्य एवं लक्ष्य सुस्पष्ट है, यह मनुष्यों को अपनी रोजी–रोटी कमाने योग्य बनाती है, देश के उद्योगधन्धों के लिए कुशल कर्मकार, इंजीनियर, संगठनकर्ता और प्रशासक तैयार करती है और देश के आर्थिक विकास और मनुष्य के जीवन स्तर को उठाने में सहायता करती है।
2. अब विभिन्न स्तरों की व्यवसायिक शिक्षा के लिए विभिन्न प्रकार के पाठ्यक्रमों का विकास किया जा चुका है और उन्हें अद्यतन बना दिया गया है और यह निर्णय लिया गया है कि प्रत्येक पाँच वर्ष के अन्तर से इसका पुनर्निरीक्षण किया जाएगा और इन्हें अद्यतन एवं उपयोगी बनाए रखा जाएगा।
3. अब इस शिक्षा के माध्यम की समस्या का समाधान भी किया जा चुका है, निम्न स्तर की शिक्षा क्षेत्रीय भाषाओं के माध्यम से दी जाती है और उच्च स्तर की शिक्षा अंग्रेजी के माध्यम से दी जाती है।

परन्तु वर्तमान में इसका पुनः विस्तार होने से इसके क्षेत्र में अनेक चुनौतियाँ पुनः खड़ी हो गई। ऐसी ही कुछ चुनौतियों निम्न है–

प्रशासन, वित्त एवं नियन्त्रण में सुधार

आज हमारे देश में अनेक प्रकार की व्यावसायिक शिक्षण संस्थाएँ है। प्रशासन एवं वित्त की दृष्टि से इन्हें तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है– केन्द्र सरकार द्वारा स्थापित और संचालित, प्रान्तीय सरकारों द्वारा स्थापित और संचालित तथा निजी प्रबन्धों द्वारा स्थापित एंव संचालित। केन्द्र द्वारा स्थापित एंव संचालित संस्थाएं भी कई प्रकार की हैं– शिक्षा विभाग द्वारा संचलित, उद्योग विभाग द्वारा संचालित और रेल विभाग द्वारा संचालित आदि। इसी प्रकार प्रान्तों में भी कुछ संस्थाओं का संचालन शिक्षा विभाग करता है और कुछ का उद्योग एवं अन्य विभाग करते हैं। निजी प्रबन्धों द्वारा स्थापित संस्थाएँ भी अनेक प्रकार की है, कुछ संस्थाओं को सरकार आर्थिक सहायता देती है तथा कुछ को नहीं देती और जिन्हें आर्थिक सहायता नहीं देती है उन्हें कैपीटेशन फीस लेने का अधिकार दे रखा है। जहाँ तक प्रान्तों में व्यावसायिक एंव तकनीकी शिक्षा की व्यवस्था की बात है इसके स्वरूप का निर्धारण तो प्रान्तीय तकनीकी शिक्षा बोर्ड करते है और उनके प्रशासन का भार प्रान्तीय शिक्षा निदेशालय पर होता है। यह कुछ इतना उलझा हुआ स्वरूप है कि इसके प्रशासन, वित्त एंव नियन्त्रण में बड़ी कठिनाई है। शिक्षा की व्यवस्था करना केन्द्र और प्रान्तीय सरकारों का संयुक्त उत्तरदायित्व है। केन्द्रीय सरकार शिक्षा की राष्ट्रीय

नीति तो बनाती है परन्तु उसके पालन के लिए प्रान्तीय सरकारों को बाध्य नहीं कर सकती। इस कारण प्रान्तों में व्यावसायिक शिक्षा के प्रशासन का भिन्न–2 रूप देखने को मिलता है तथा यह भिन्न–भिन्न विभागों के द्वारा संचालित भी हो रही है।

हमारे देश में स्वायत्तता के नाम पर प्रान्तीय सरकारों को आवश्यकता से अधिक अधिकार दे रखे हैं इस कारण प्रशासन, वित्त एवं नियन्त्रण व्यावसायिक शिक्षा के क्षेत्र में एक बड़ी चुनौती बनी हुई है। इस समस्या के समाधान के लिए केन्द्र द्वारा निर्धारित नीतियों का सभी प्रान्तीय सरकारें पालन करें तथा पूरे देश में एक जैसी शिक्षा व्यवस्था हो। दूसरा केन्द्र द्वारा संचालित सभी संस्थाएं मानव संसाधन विभाग के अन्तर्गत हो तथा उनके प्रशासन, वित्त एवं नियन्त्रण का पूरा उत्तरदायित्व इसी विभाग पर हो। इसी प्रकार प्रान्तीय सरकारों के सभी संस्थान प्रान्त सरकार के शिक्षा विभाग के अधीन हो तथा उनका प्रशासन, वित्त एवं नियन्त्रण इस विभाग के अधीन हो। निजी प्रबन्धों द्वारा संचालित संस्थाएँ भी प्रान्तीय सरकारों के नियन्त्रण में होनी चाहिए।

चयन एवं प्रवेश में सुधार

आज पूरे देश में व्यावसायिक शिक्षा में छात्र–छात्राओं के प्रवेश का भारी दबाव है, प्रतिवर्ष लाखों छात्र–छात्राएँ इसमे प्रवेश नहीं ले पाते। पत्राचार पाठ्यक्रम और खुले विश्वविद्यालय भी इस समस्या का हल नहीं कर पा रहे हैं। एक तरफ लोकतन्त्र का सिद्वान्त है– सभी को शिक्षा के अवसर तथा दूसरी और व्यावसायिक शिक्षा नीति है– माँग के अनुसार व्यवस्था। साथ ही देश में बढ़ती हुई जनसंख्या भी इस समस्या को प्रबल बनाती है।

मूल बात यह है कि हमें व्यावसायिक शिक्षा की व्यवस्था माँग के अनुसार ही करनी चाहिए अन्यथा शिक्षित बेरोजगारी और अधिक बढ़ जाएगी। चयनात्मक प्रवेश प्रणाली को अधिक पारदर्शी बनाया जाए। क्षेत्र, जाति, धर्म एवं लिंग आदि आधार पर आरक्षण और छात्रवृत्तियों को समाप्त कर एक सामान्य आर्थिक आधार बनाया जाना चाहिए।

प्रायोगिक प्रशिक्षण में सुधार

आज वयवसायिक शिक्षा के पाठ्यक्रमों में सैद्वान्तिक ज्ञान और प्रायोगिक कार्य को बराबर का महत्व दिया जाता है। यह प्रायोगिक कार्य संस्थाओं की प्रयोगशालाओं और कार्यशालाओं और तत्सम्बन्धी उद्योगशालाओं में किया जा सकता है। परन्तु वास्तविक स्थिति यह है कि अधिकतर व्यावसायिक शिक्षा संस्थाओं में सैद्वान्तिक ज्ञान तो करा दिया जाता है परन्तु व्यावहारिक प्रशिक्षण सही ढंग से नहीं दिया जाता। जहाँ तक प्रायोगिक परीक्षाओं में अंक अर्जित करने की बात है तो पूरी मूल्यांकन प्रक्रिया ही दोषपूर्ण है। इस समस्या का प्रमुख कारण उपयुक्त प्रयोगशाला और कार्यशालाओं का न होना तथा स्थानीय औद्योगिक संस्थाओं का सहयोग न मिलना है। छात्रों व शिक्षकों में कर्त्तव्यनिष्ठा की कमी भी एक बड़ी चुनौती है।

इस समस्या के समाधान के लिए सैद्वान्तिक पाठ्यक्रम को नियन्त्रित किया जाना चाहिए तथा संस्थाओं में लम्बे अवकाश कम करके प्रायोगिक कार्य के लिए अधिक समय देना चाहिए। व्यावसायिक शिक्षा संस्थाओं में आवश्यक उपकरणों से पूर्ण प्रयोगशालाओं और कार्यशालाओं की व्यवस्था करनी चाहिए तथा शिक्षकों की जवाबदेही सुनिश्चित की जानी चाहिए। अधिनियम बनाकर औद्योगिक संस्थाओं के लिए यह अनिवार्य किया जाए कि वे एक निश्चित समय तक एक निश्चित संख्या में छात्र–छात्राओं को अपने यहाँ प्रायोगिक कार्य करने की सुविधा प्रदान करें।

योग्य शिक्षकों की आपूर्ति

व्यावसायिक शिक्षा की सफलता मूल रूप से तीन तत्वों पर निर्भर करती है– शिक्षार्थी, शिक्षक और शिक्षा साधन। इनमें शिक्षक मुख्य होता है और स्थिति यह है कि अधिकतर व्यावसायिक संस्थाओं में शिक्षकों की कमी है ओर जो शिक्षक है, उनमें से अधिकांश उच्चतम योग्यता के नहीं हैं। व्यावसायिक शिक्षा का अत्याधिक विस्तार, अपर्याप्त बजट, सरकार की उदासीनता, योग्य व्यक्तियों का शिक्षण कार्य की अपेक्षा औद्योगिक इकाईयों में आकर्षण इस समस्या का मुख्य कारण है।

इस समस्या के समाधान हेतु शिक्षा बजट को बढ़ाया जाए, योग्य व्यक्तियों को शिक्षण व्यवसाय की ओर आकर्षित किया जाए तथा उचित शिक्षक–छात्र अनुपात होने पर ही कोर्स संचालित किए जाएँ।

व्यावसायिक शिक्षा के स्तर में सुधार

व्यवसायिक शिक्षा के विषय में आम राय यह है कि इसका स्तर गिरता जा रहा है। जहाँ तक सामान्य व्यावसायिक शिक्षा की बात है, +2 तक के सभी व्यावसायिक पाठ्यक्रम निरर्थक साबित हुए है। जूनियर पाठ्यक्रम पूरा करने वाले अधिकतर छात्र उद्योगों के लिए कुशल कर्मकार नहीं बन पा रहे, सीनियर पाठ्यक्रम पूरा करने वाले अधिकतर छात्र उद्योगों में कनिष्ठ पदों पर सही ढंग से कार्य करने योग्य नहीं बन पा रहे और उच्च पाठ्यक्रम पूरा करने वाले अधिकतर छात्र उच्च पदों पर कार्य करने योग्य नहीं बन पा रहे। हमारे देश में कुछ कृषि विश्वविद्यालयों, चिकित्सा महाविद्यालयों, क्षेत्रीय इंजीनियरिंग कॉलेज, भारतीय तकनीकी संस्थान, भारतीय प्रबन्ध संस्थान, क्षेत्रीय शिक्षक संस्थान तथा अन्य को छोड़कर अधिकतर संस्थाओं से निकलने वाले अधिकतर छात्र–छात्राओं का स्तर सचमुच नीचा है।

इस समस्या के मुख्य कारण–सरकार का शिक्षा पर कम ध्यान, अपर्याप्त बजट, दोषपूर्ण प्रवेश प्रक्रिया, शिक्षकों की कमी, प्रायोगिक प्रशिक्षण की कमी, शिक्षा का निजीकरण तथा अन्य राजनीतिक कारण है। इसके समाधान हेतु सरकार को पर्याप्त बजट बनाकर व्यावसायिक शिक्षा को साधन सम्पन्न करना चाहिए तथा निजी शिक्षण संस्थानों पर नियन्त्रण रखना चाहिए तथा घटिया किस्म के व्यावसायिक संस्थाओं को बन्द करना चाहिए।

सतत् शिक्षा की व्यवस्था

व्यावसायिक शिक्षा का संबंध विज्ञान से है और इस युग में विज्ञान एवं तकनीकी के क्षेत्र में इतनी तेजी से विकास हो रहा है कि आज का सीखा हुआ ज्ञान कल पुराना पड़ जाता है, या कम महत्व का रह जाता है। इसके लिए आवश्यक है कि व्यावसायिक शिक्षा प्राप्त व्यक्तियों को अद्यतन जानकारी देने हेतु सतत् शिक्षा की व्यवस्था की जाए। पर इतने बड़े समूह के लिए यह व्यवस्था कैसे की जाए, यह एक बड़ी चुनौती है। और यदि कुछ व्यवस्था है भी तो उसका कार्यरत व्यक्ति लाभ नहीं उठाते, उनमें अपने ज्ञान एवं कौशल को बढ़ाने की रूचि का भी आभाव पाया जाता है।

इस समस्या के समाधान हेतु सरकार व्यावसायिक शिक्षकों के लिए प्रति 5–7 वर्ष बाद रिफ्रेशर कोर्सों की व्यवस्था करे, यह व्यवस्था उच्च शिक्षा केन्द्रों पर ग्रीष्मावकाश में की जाए तो उत्तम रहेगा। व्यवसायिक शिक्षा के क्षेत्र में होने वाले विकास की सूचनाओं को सरकार द्वारा विभिन्न पत्रिकाओं में प्रकाशित, रेडियों तथा टेलीविजन पर प्रसारण करके दिया जा सकता है। साथ ही कार्यरत व्यक्तियों की पदोन्नति उनकी अद्यतन जानकारी और कार्यक्षमता के आधार पर की जाए। तब ये व्यक्ति इस दिशा में स्वयं क्रियाशील होंगे।

व्यावसायिक शिक्षा संस्थाओं की दशा में सुधार

हमारे देश में अधिकतर व्यावसायिक शिक्षा संस्थाओं की दशा बड़ी दयनीय है, न उनके पास अच्छे भवन है और न उच्च स्तर के पुस्तकालय हैं, न संसाधनपूर्ण प्रयोगशालाएँ है और न आधुनिकतम मशीनों से पूर्ण कार्यशालाएँ है। इतनी बड़ी संख्या में व्यावसायिक शिक्षण संस्थाओं की दशा सुधारना, इस क्षेत्र की एक बहुत बड़ी चुनौती है।

शिक्षा का अपर्याप्त बजट, आवश्यकता से अधिक विस्तार, निजी संस्थाओं पर सरकार के पूर्ण नियन्त्रण का आभाव तथा अनुदान का सही ढंग से प्रयोग न होना इस समस्या के मुख्य कारण है। इस समस्या के समाधान के लिए केन्द्र व प्रान्तीय सरकार को अपने बजट में वृद्धि करनी चाहिए जिससे इन शिक्षण संस्थाओं की दशा ने सुधार हो सके। व्यावसायिक शिक्षा का विस्तार संसाधनों की उपलब्धता तथा स्थान विशेष की माँगों के आधार पर करना चाहिए। सरकार निजी संस्थाओं पर पूर्ण नियनत्रण रखे तथा जहाँ अनुदान दिया जाए, उसका सही प्रयोग हो यह भी सुनिश्चित करे।

अपव्यय एवं अवरोधन को रोकना

किसी छात्र के प्रवेश लेने के बाद बीच में ही पढ़ाई छोड़ देने से जो समय, शक्ति और धन का अपव्यय होता है उसे शिक्षा जगत में अपव्यय कहते हैं और किसी छात्र का किसी निश्चित पाठ्यक्रम को उसके लिए निश्चित समय से अधिक समय में पूरा करने में जो अतिरिक्त समय, शक्ति और धन लगता है उसे शिक्षा जगत में अवरोधन कहते हैं। आज स्थिति यह है कि व्यवसायिक शिक्षा संस्थाओं में अपव्यय तथा अवरोधन बहुत बढ़ गया है। हम जानते है कि व्यावसायिक शिक्षा में प्रति छात्र व्यय अपेक्षाकृत बहुत अधिक होता है इसलिए इस स्तर पर इसे कम करना एक बड़ी चुनौती है।

उचित ढ़ग से पढ़ाई का न होना, छात्रों में रूचि का अभाव, अयोग्य छात्रों का प्रवेश, कुसंगति का शिकार व कुछ अन्य पारिवारिक समस्याएँ इस समस्या के मुख्य कारण हैं। इस समस्या के समाधान हेतु शिक्षा संस्थाओं की दशा सुधारी जानी चाहिए, उन्हें साधन सम्पन्न किया जाए व शिक्षकों की जवाबदेही निश्चित की जाए। साथ ही संस्थाओं में योग्य छात्रों को प्रवेशित किया जाए तथा शिक्षण–अधिगम का वातावरण अनुकूल बनाया जाए।

इमानदारी और कर्त्तव्यनिष्ठा की कमी

आज भारत में किसी भी क्षेत्र में सबसे बड़ी चुनौती इमानदारी और कर्त्तव्यनिष्ठा की है शिक्षा के क्षेत्र में इसकी कमी होना भारी चिन्ता का विषय है। आज स्थिति यह है कि शिक्षा के प्रशासन से जुड़े अधिकतर लोग अपने कर्त्तव्य का पालन ईमानदारी और निष्ठा में नहीं करते। संस्थाओं को मान्यता देने और अनुदान देने में भी अब व्यवहार, सिफारिश और पैसा चल रहा है। शिक्षा संस्थाओं के अधिकतर अधिकारी भी अपने कर्त्तव्यों का पालन नहीं करते, प्राप्त अनुदान में भी खूब हेरा–फेरी होती है। अधिकतर शिक्षक भी परिश्रम के साथ शिक्षण कार्य नहीं करते। वे परीक्षक के रूप में मूल्यांकन कार्य भी बड़ी लापरवाही से करते हैं। प्रायोगिक परीक्षाओं में तो परीक्षार्थियों का आर्थिक शोषण भी होता है। यदि शिक्षा से जुड़े सभी व्यक्ति ईमानदार और कर्त्तव्यनिष्ठ हो जाएं तो फिर कम संसाधनों से भी अच्छी शिक्षा की व्यवस्था की जा सकती है।

हमरा अधिकारों के प्रति जागरूक होना व कर्त्तव्य के प्रति नहीं होना, भ्रष्टाचार, भौतिकवादी दृष्टिकोण का विकास तथा मूल्यों का ह्रास इस समस्या के मुख्य कारण हैं। इस समस्या के समाधान के लिए हमें अपने कर्त्तव्यों का पालन करना चाहिए, भ्रष्टाचार पर लगाम कसनी चाहिए तथा समाज में मूल्यों के ह्रास को रोकना चाहिए। अतः आवश्यक है कि आरम्भ से ही बच्चों में सामाजिक एवं राष्ट्रीय मूल्यों का विकास किया जाए।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि यद्यपि हमने व्यावसायिक शिक्षा के उद्देश्य स्पष्ट कर दिए हैं, उसके विभिन्न स्तरों की पाठ्यचर्या को विस्तृत एवं अद्यतन बना दिया है, उसके माध्यम की समस्या सुलझा दी है पर सुधार तो एक निरन्तर प्रक्रिया है, यह कभी नहीं रूकती। इस समय हमें व्यावसायिक शिक्षा की उन समस्याओं को हल करने का प्रयत्न करना चाहिए, जिनके कारण हम इसका उचित प्रतिफल प्राप्त नहीं कर पा रहें हैं और यह सब तभी सम्भव होगा जब व्यावसायिक शिक्षा से जुड़े सभी लोग ईमानदारी और कर्त्तव्यनिष्ठा के साथ कार्य करेगें। यदि सरकार और इस शिक्षा से जुड़े सभी व्यक्ति ईमानदारी औार कर्त्तव्य निष्ठा से कार्य करेगें तो इस शिक्षा के उद्देश्यों को भली–भांति प्राप्त किया जा सकता है।

सन्दर्भ ग्रन्थ

1. लाल, रमन बिहारी, (2003) 'भारतीय शिक्षा और उसकी समस्याएँ' रस्तोगी पब्लिकेशन्स, मेरठ।
2. पाण्डेय, रामशकल (2005), 'उदीयमान भारतीय समाज में शिक्षक' विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा।
3. सोती शिवेन्द्र चन्द्र एवं मित्तल, एम0एल0 (2006) 'उदीयमान भारतीय समाज में शिक्षा' इण्टरनेशनल पब्लिशिंग हाउस, मेरठ।
4. पत्रिका 'शिक्षक प्रभा', मई 2008, अंक 8
5. पत्रिका 'योजना', अप्रैल 2016

●●●

अभिनवकाव्यालंकारसूत्र में औपम्यमूलक अलंकार

डॉ.सन्दीप कुमार मिश्र

सहायकाचार्य संस्कृतविभाग
किसान पी.जी.कालेज,बहराइच

काव्यशास्त्र के प्रारम्भिक युग में काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों के लिए प्रयुक्त काव्यालंकार नाम उस युग में अलंकारों के महत्त्व तथा प्राधान्य को द्योतित करता है। प्रायः सभी आचार्यों ने अलंकार का आधार शब्द एवं अर्थ माना है, अतः इसी आधार पर शब्दालंकार ,अर्थालंकार और उन दोनों के मिश्रण से बने हुए उभयालंकार की कल्पना की गयी है। आचार्य वामन ने काव्यालंकारसूत्र के चतुर्थ अधिकरण में अलंकारों का वर्गीकरण शब्द और अर्थ के आधार पर किया। यह विभाजन पूर्ववर्ती भरत, दण्डी, भामह आदि आचार्यों ने नहीं किया था। आचार्य वामन की ही भाँति अभिनवकाव्यालंकारसूत्रकार ने अलंकारों का द्विविध विभाजन किया, किन्तु यह विभाजन उन्होनें शब्दालंकार और अर्थालंकार में न करके आभ्यन्तर अलंकार और बाह्य अलंकार के रूप में किया–**'अलकाराद्विविधाः– आभ्यन्तराश्च बाह्याश्च'।**[1]

जिनके होने पर काव्य उत्पन्न तो होता है किन्तु जिनके बिना वह प्रसृत नहीं हो सकता वे अलंकार आभ्यन्तर हैं। ये समस्त काव्यों में परिव्याप्त रहतें हैं तथा इनमें ही रसों का अन्तर्भाव हो जाता है। बाह्य अलंकार भी काव्य में समवेत ही रहते हैं किन्तु यह सर्वत्र स्फुटित नहीं होते । अलंकारों के मूलाधार का निर्देश सर्वप्रथम भामह ने किया तथा वक्रोक्ति को सभी अलंकारों का मूल माना। यथा–

सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।

यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारेऽनया बिना ।।[2]

दण्डी ने वक्रोक्ति की जगह अतिशयोक्ति का प्रयोग किया । इसके अतिरिक्त उन्होनें सभी प्रकार की वक्रोक्तियों में प्रायः श्लेष का सम्पर्क भी स्वीकार किया है। आचार्य वामन ने अपने ग्रन्थ में अधिकतर सादृश्यमूलक अलंकारों की ही चर्चा की तथा उनका आधार उपमा को कहा।[3] सबसे पहले अधिकाधिक अलंकारों के सामान्य आधारों की चर्चा रूद्रट ने की। उन्होने सभी अलंकारों को चार भागों में विभाजित किया[4] – 1 वास्तवमूलक 2 औपम्यमूलक 3 श्लेषमूलक 4 अतिशयमूलक । इसी प्रकार अभिनवकाव्यालंकारसूत्रकार ने भी बाह्य अलंकारों को चार भागों में विभाजित किया[5]–1 संघटनाश्रितमूलक 2 विरोधमूलक 3 औपम्यमूलक 4 वृत्तिमूलक। अभिनवकाव्यालंकारसूत्रकार प्रो0 राधावल्लभ त्रिपाठी के अनुसार अन्यथाकरण, छाया,जाति तथा अतिशय ये चार अलंकार संघटनाश्रित हैं, अपह्नुति, विरोध, असंगति, विषम, द्वन्द्व और तानव ये छः विरोधमूलक हैं, उपमा,रूपक,उत्प्रेक्षा और दीपक अलंकार को उन्होने, औपम्यमूलक श्रेणी में रखा है तथा नादानुवृत्ति,यमक,श्लेष और लय इन चार को वे वृत्तिमूलक के अन्तर्गत मानते हैं। यथा–

अन्यथाकरणं छाया जातिश्चातिशयस्तथा।

इमे चत्वार एव स्युराद्याः सङ्.घटनाश्रिताः।

अपह्नुतिर्विरोधश्चासगतिर्विषमं तथा।

द्वन्द्वं च तानवं च स्युर्वर्गे विरोधमूलके।

उपमा रूपकं चैव चोत्प्रेक्षा दीपकं यथा

इमे चत्वार एव स्युर्वर्गे चौपम्यमूलके।।

नादानुवृद्विार्यमकं श्लेषश्चापि लयस्तथा।

एते सन्ति च चत्वारोऽलटारा वृद्विामूलकाः।।[6]

औपम्यमूलक अलंकार – इस वर्ग में राधावल्लभ ने उपर्युक्त चार अलंकारों को रखा है तथा उन चारों में सबसे पहले उपमा का निरूपण किया है–

उपमालंकार–

राधावल्लभ ने उपमा का लक्षण **''साम्यपरिकल्पनोपमा''**[7] कहा है अर्थात् साम्य की परिकल्पना उपमा है। इसमें उपमेय और उपमान दोनो का निरूपण किया जाता है । उपमेय और उपमान दोनो के तीन प्रकार हैं – आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक। इस प्रकार प्रकारान्तर से उन्होने उपमा के नौ भेद माने हैं।[8] राधावल्लभ प्राचीन आचार्यों वामन, मम्मटादि की उपमा व्याख्या से सहमत नहीं हैं उनका कहना है कि समान वस्तु(चन्द्र) से समान(मुख) के साधर्म्य निरूपण को उपमा मानना तर्कसंगत नहीं है जैसा काव्यालंकारसूत्र में 'मुखं कमलमिव' तथा काव्यप्रकाश में 'मुखं चन्द्रमिव' उदाहरण द्वारा कहा गया है। राधावल्लभ के अनुसार असदृश वस्तुओं का सादृश्य होने पर ही उपमा होती है अपने इस मत को उन्होने निरुक्त में उद्धृत गार्ग्याचार्य के मत से स्पष्ट किया है कि वह असदृश वस्तु उसके सदृश है, यही उपमा है। राधावल्लभ वामन के इस मत से सहमति प्रकट करतें हैं कि जब उपमेय और उपमान लोकप्रसिद्ध हों तभी उपमा होती है अन्यथा वह मात्र उदाहरण बन के रह जाते हैं। अभिनवकाव्यालंकारसूत्रकार उपमा को वाच्य और व्यंग्य से दो प्रकार का मानते हैं। वे पूर्वाचार्यों द्वारा कहे गये मालोपमा,उपमेयोपमा,अमूर्तोपमा इत्यादि उपमा भेदों को दीपक अलंकार में अन्तर्निहित मानते हैं।

रूपक अलंकार–

आचार्यराधावल्लभ ने अभिनवकाव्यालVारसूत्र में रूपक का लक्षण – **'आरोपणाद् अध्यवसानाद् अन्यापदेशाद्वा रूपकम्'**[9] किया है। पूर्ववर्ती आचार्य वामनादि उपमान और उपमेय के गुणसादृश्य होने पर, उपमेय में उपमान के अभेदत्व के आरोप को रूपक मानते हैं जबकि राधवल्लभ आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक तीनो रूपों में अन्य रूप के आरोप को रूपक मानते हैं, वे अतिशयोक्ति तथा अप्रस्तुतप्रशंसा का इसी रूपक में अन्तर्भाव मानते हैं उनके अनुसार कभी कभी वस्तु के आध्यात्मिक रूप का आविष्कार करने के लिए आरोप किया जाता है यथा **''पश्य देवस्य काव्यं न ममार न जीर्यति''**, तो कहीं एक आधिभौतिक वस्तु में अन्य आधिभौतिक वस्तु का आरोप अथवा अध्यवसान उसकी वास्तविकता का परिचय कराने के लिए दिया जाता है। यथा–

क्षेत्रे स्वे श्रमबिन्दु चिह्नितनुर्यो वै तपस्तप्यते

तं निर्वास्य दुराग्रहात् स्ववसतेराच्छिद्य भूमिं ततः।

आक्रम्यातिमदादगण्यमिव तं मत्वा जनं निर्भया

विक्रामन्ति च साट्टहासमधुना, च४चामनुष्याः सुखम्।।[10]

अर्थात् अपने खेत में पसीने की बूँदों से भरा हुआ जो तपस्या कर रहा है उसे बलात् अपनी बस्ती से निकालकर तथा उससे भूमि छीनकर, उस पर आक्रमण कर, उसे किसी योग्य न मानकर निर्भय होकर बजूके जैसे मनुष्य अट्टहास करते हुए निर्भय और सुखपूर्वक विचरण कर रहें हैं।

राधावल्लभ के अनुसार रूपक में पाश्चात्यों द्वारा प्रतिपादित प्रतीक तत्त्व का अन्तर्भाव होता है इस प्रतीक का लक्षण उन्होने **''प्रख्यातवैशिष्ट्येनाप्रस्तुतेन प्रस्तुतस्य प्रातिनिध्यं प्रतीकम्''**[11] किया है। अर्थात् प्रख्यात वैशिष्ट्य अप्रस्तुत से प्रस्तुत का प्रातिनिध्य प्रतीक है। यह प्रतीकमूलक रूपक वाक्यगत, प्रकरणगत तथा प्रबन्धगत भेद से तीन प्रकार का होता है। पंचतन्त्र में अनेक कथाएं प्रतीक में पर्यवसित होती हैं। काकोलूकीय में उलूक छिपकर घात करने वाले क्रूर मनुष्य का प्रतिनिधि है। इसी प्रकार करटक और दमनक राजनीति में चतुर धूर्त अमात्यों के प्रतीक हैं।

उत्प्रेक्षालकार–

उपमा के पश्चात तीसरे औपम्यमूलक अलंकार उत्प्रेक्षा का लक्षण करते हुए राधावल्लभ कहते हैं– **''सम्भावनात्मिका कविकल्पनैव उत्प्रेक्षा।** [12]अर्थात् सम्भावनात्मक कवि कल्पना ही उत्प्रेक्षा है। यहाँ कवि कल्पना से तात्पर्य आधिदैविकी सृष्टि है। जब किसी आधिभौतिकी सृष्टि का आधिदैविक रूप से सम्भावना की जाती है तब उत्प्रेक्षा अलंकार होता है। वह इस उत्प्रेक्षा में ससन्देह और भ्रान्तिमान का अन्तर्भाव मानते हैं। मन्ये, शंके, ध्रुवं, प्रायः, नूनम् आदि सन्देहार्थक तथा भ्रमार्थक और इव आदि अन्य शब्दों का प्रयोग इस अलंकार में होता है। यह उत्प्रेक्षा वाक्यगत, प्रकरणगत तथा प्रबन्धगत भेद से तीन प्रकार का होता है तथा शब्दव्यापार की दृष्टि से वाच्य और व्यंग्य भेद से दो प्रकार का है।यथा वाक्यगत उत्प्रेक्षा का एक उदाहरण दृष्टव्य है–

सद्यः सीरसमाकृष्टा सुरभिं भूरिशश्च भूः।
लवण्यामृतसम्पृक्ता ललनेव विमु४चति।।[13]

अर्थात् अभी–अभी हल से जोती गयी यह भूमि अत्यधिक सोंधी सुगन्ध छोड़ रही है जैसे लावण्य के अमृत से सम्पृक्त ललना।

प्रकरणगत एवं प्रबन्धगत उत्प्रेक्षा के उदाहरण विक्रमोर्वशीयम् में बहुतायत से मिलते हैं यथा–

आविर्भूते शशिनि तमसा मुच्यमानेव रात्रि–

नैशस्यार्चिर्हुतभुज इवच्छिन्न भूयिष्ठधूमा।

मोहेनान्तर्वरतनुरियं लक्ष्यते मुक्तकल्पा

गXारोधः पवनकलुषा गृöतीव प्रसादम्।।[14]

अर्थात् आन्तरिक मूर्च्छा से दूर होती हुई यह सुन्दरी चन्द्रमा के उदित होने पर अन्धकार से मुक्त होती हुई रात्रि के समान है, निशाकालीन अग्नि की धूमरहित हुई ज्वाला के समान है, तट के पतन से कलुषित होने के बाद निर्मलता को प्राप्त करती हुई गंगा के समान सुन्दर प्रतीत हो रही है। यहाँ नायक और उसके मुख से कवि भी उत्प्रेक्षा कर रहा है। उत्प्रेक्षाओं में कविकल्पनाओं का चमत्कार सुशोभित हो रहा है। इसी प्रकार सम्पूर्ण विक्रमोर्वशीयम् में उत्प्रेक्षा की छटा सुशोभित होती है।

दीपक अलंकार– उत्प्रेक्षा के अनन्तर चौथे और अन्तिम औपम्यमूलक अलंकार का लक्षण राधावल्लभ ने **''दीपनाद् दीपकम्''**[15] किया है, अर्थात् भिन्न भिन्न अर्थों वाले शब्दों का दीपन करने वाला दीपक अलंकार होता है। काव्यालंकारसूत्र में वामन ने दीपक का लक्षण **''उपमानोपमेयवाक्येष्वेका क्रिया दीपकम्''**[16] किया है अर्थात् उपमान और उपमेय वाक्यों में एक ही क्रिया का सम्बन्ध दिखलाना दीपक अलंकार है। राधावल्लभ के अनुसार दीपक अलंकार का सदैव उपमागर्भित होना आवश्यक नहीं है। मम्मट ने भी काव्यप्रकाश में जो दो प्रकार के दीपक अलंकार बताये हैं उनमें औपम्यमूलकता को अनिवार्य नहीं माना है। इस प्रकार दीपक अलंकार में कहीं उपमा की प्रतीति होती है और कहीं नहीं होती। एक उपमेय के लिए अनेक उपमानों का प्रयोग होने पर भी दीपक अलंकार होता है।यथा–

तस्य सन्दिदिहे बुद्धिस्तथा सीतां निरीक्ष्य च।

आम्नायानामयोगेन विद्यां प्रशिथिलामिव।।

दुःखेन बुबुधे सीतां हनूमाननलटताम्।

संस्कारेण यथा हीनां वाचमर्थान्तरं गताम्।।[17]

अर्थात् 'सीता को आम्नायों के अयोग से प्रशिथिल विद्या की तरह देखकर हनूमान् की बुद्धि में सन्देह उत्पन्न हो उठा। हनूमान् अलंकाररहित सीता को संस्कार से हीन अर्थान्तर को प्राप्त वाणी के समान बड़ी कठिनाई से जान सके'।

दीपक अलंकार में अन्विति का सन्धान होता है। उससे एक वाक्यता का आविष्कार होने के कारण दीपक अलंकार के प्रयोग से एक ही पद्य महावाक्य बन जाता है।

इस प्रकार राधावल्लभ त्रिपाठी ने अपने ग्रन्थ अभिनवकाव्यालंकारसूत्र में औपम्यमूलक अलंकारो की विस्तृत विवेचना की है।

<u>सन्दर्भग्रन्थ</u>

1. अभिनवकाव्यालंकारसूत्र 2/4/1

2. भामहकाव्यालंकार 2/85

3. 'तन्मूलं चोपमेति'–काव्यालंकारसूत्र पृ0137

4. संस्कृत वाङ्मय का वृहद् इतिहास पृ0 479

5. अभिनवकाव्यालंकारसूत्र 2/6/1

6. तदेव पृ0 86

7. तदेव 2/6/12

8. तदेव पृ0 125

9. तदेव 2/6/13

10. तदेव पृ0 127

11. तदेव 2/6/14

12. तदेव 2/6/15

13 तदेव पृ0131

14. विक्रमोर्वशीयम् 1/9

15. अभि0का0सू0 2/6/16

16. का0सू0 4/3/18

17. वा0रामायण 5/15/38.39

●●●

बच्चों पर सर्व शिक्षा अभियान के प्रभाव का एक समाजशास्त्रीय अध्ययनः धनबाद जिले के विषेष संदर्भ में

सरिता गुप्ता
शोध छात्रा
स्नातकोंत्तर समाजशास्त्र विभाग
रांची विश्वविद्यालय रांची

महाभारत का कथन है– विद्या के समान कोई दूसरा नेत्र नहीं होता। संस्कृत– 'नास्ति विद्या समं चक्षु नास्ति सत्यं समं तपः'संसार के महान नेता महात्मा गांधी ने कहा था कि शिक्षा और जीवन का क्षेत्र समान होना चाहिए। यही नहीं उन्होंने यह भी कहा था कि शिक्षा का मुख्य उददेश्य यह होना चाहिए कि वह जीवन की रक्षा कर सके। ऐसी बात पहली बार किसी सामाजिक और आध्यात्मिक नेता ने कही थी। दूसरी ओर विज्ञान ने भी इस बात का अनुमोदन किया है कि समस्त जीवन के लिए शिक्षा का विस्तार में अध्ययन संभव हो सकता है। हर स्तर की शिक्षा को जीवन की वास्तविक व व्यवहारिक परिस्थितियों से जोडने की आवश्यकता है। शिक्षा का संसार एक ऐसे द्वीप की तरह है जहां लोगों को संसार से अलग करके जीवन का सामना करने की शिक्षा दी जा रही हो। जहां तक की सर्व शिक्षा अभियान की बात है तो इसके शब्द से स्पष्ट है कि सर्व जिसका अर्थ होता है सभी, शिक्षा का अर्थ है शिक्षित करना और अभियान का अर्थ है लक्ष्य के अनुरूप प्रारंभ किया गया कार्यक्रम। अर्थात सभी लोगों को शिक्षित करने का कार्यक्रम। इस योजना में किसी भी तरह के भेदभाव को नहीं रखा गया है बल्कि इसके आधार पर सभी तरह के बच्चों को चाहे वे किसी भी जाति या जनजाति या पिछड़े या सामान्य वर्ग के हैं उनमें शिक्षा का अलख जगाना है। शिक्षा समाज के विकास का एक महत्वपूर्ण साधन व मार्ग है जो व्यक्ति को न सिर्फ कागजी ज्ञान प्रदान करती है बल्कि उनको पुनर्जागरीत करते हुए समाज में एक अच्छे सदस्य के रूप में स्थापित करती है, जिससे व्यक्ति समाज के कुशल सदस्य रूप में प्रदत प्रस्थिति के आलोक में भूमिकाओं का निर्वहन करने में सक्षम हो पाये। इस शोध पत्र के माध्यम से बच्चों पर सर्व शिक्षा अभियान के प्रभाव को दर्शाने का प्रयास किया गया है।

मुख्य विंदू– सर्व शिक्षा अभियान, शिक्षा, बच्चे, शैक्षिक विकास, साधन व साध्य

शिक्षा शिक्षण की एक प्रक्रिया है, जिसमें ज्ञान, कुशलता और दिनचर्या को लोगों के एक समूह से दूसरे समूह को पीढ़ी दर पीढ़ी के स्तर पर शिक्षण, प्रशिक्षण व शोध के माध्यम से हस्तांतरित किया जाता है। शिक्षा दूसरों के निर्देशन में दी जाती है, परंतु कभी कभी यह स्वयं भी सीखी जाती है।

सर्व शिक्षा अभियान

सर्व शिक्षा अभियान भारत सरकार के द्वारा समूचे देश में प्राथमिक शिक्षा के विकास का एक महत्वपूर्ण समन्वित एवं एकीकृत कार्यक्रम रहा है। यह अभियान 2001–2002 में राज्य सरकारों एवं स्थानीय सरकारों के सहयोग से आरंभ किया गया। जिसका उददेश्य 6 से 14 वर्ष तक के सभी बच्चों को 2010 तक प्राथमिक शिक्षा प्रदान करना है।[1] यह एक कार्यक्रम है जो गुणवता पूर्ण एवं सार्वभौमिक शिक्षा को विकेंद्रिकृत और विशेष योजनाओं की नियमितता के साथ एक निश्चित समय पर पूरा करना है। यह योजना इस बात पर जोर देती है कि सभी लैंगिक भेदभावों को दूर करते हुए विविध समूहों के बीच के अंतरालों को पाटते हुए निश्चित समय सीमा के अंदर प्राथमिक शिक्षा प्रदान कराई जा सके। एक तरफ तो सर्व शिक्षा के अपने लक्ष्य, नियम एवं प्रक्रियायें हैं तो दूसरी ओर यह एक छतरी कार्यक्रम के रूप में भी है जिसमें जिला प्राथमिक शिक्षा कार्यक्रम, लोकजुंबिश योजना, ऑपरेशन ब्लैकबोर्ड को भी सहायता प्रदान करा रहा है।

भारत ने पिछले 67 वर्षों में शिक्षा के क्षेत्र में व्यापक प्रगति की है। शिक्षा पर राष्ट्रीय नीति 1986 एवं एक्शन कार्यक्रम 1992 में भी प्रारंभिक शिक्षा के लक्ष्य को प्राप्त करने पर विशेष जोर दिया गया।[2] जिसके अंतर्गत बहुत

से कार्यक्रम एवे योजनाओं की शुरूआत पिछले चार दशकों के अंतर्गत की गई जिससे सार्वभौमिक शिक्षा के लक्ष्य को पाया जा सके। कुछ योजनायें जहां प्राथमिक क्षेत्र की थी वहीं कुछ उच्च प्राथमिक क्षेत्रों में भी लागू की गई। भारत सरकार एवं राज्य सरकारों के समन्वित प्रयास का ही परिणाम रहा की प्राथमिक शिक्षा के क्षेत्र में व्यापक प्रगति हो पाई। परंतु अभी भी विशेष समूहों के लिए प्रयास किये जाने की आवश्यकता है। गुणवतापूर्ण शिक्षा प्रदान करना अभी भी एक बड़ा लक्ष्य है जिसे पूरा किया जाना आवश्यक है।यह योजना प्राथमिक शिक्षा के सभी क्षेत्रों से जुड़ा हुआ है साथ ही लड़कियों की शिक्षा के लिए भी विशेष कार्यक्रम जैसे एनपीइजीइएल एवं कस्तुरबा गांधी कार्यक्रम चलाये जा रहे हैं।

सर्व शिक्षा अभियान समाज के सबसे निचले तबके तक शिक्षा के लक्ष्य को पूरा करने के अपने प्रयास में लगातार लगा हुआ है। परंतु इसमें वांछित लक्ष्य तभी पाये जा सकते हैं जबकि समुदाय की सक्रिय भागीदारी स्कूली शिक्षा में समाहित की जा सके, इसलिए सर्व शिक्षा में इस बात पर जोर दिया गया है कि स्थानीय लोगों व लाभान्वितों को भी इससे जोड़ा जा सके।

सर्व शिक्षा अभियान के चार प्रमुख लक्ष्य निम्नांकित हैं–

1. सभी बच्चों का नामांकन स्कूलों में कैंप के माध्यम से 2005 तक कराया जाये।
2. सभी बच्चों की अपर प्राथमिक स्तर की शिक्षा प्राप्ति के लक्ष्य को 2010 तक प्राप्त किया जाये।
3. शिक्षण, व नामांकन में लैंगिक तथा सामाजिक समूह के विभेदों को भरा जाये।
4. बच्चों में प्राथमिक व अपर प्राथमिक स्तर पर शिक्षा प्राप्ति में आवश्यक वृद्धि की जाये।[3]

सर्व शिक्षा अभियान को गति प्रदान करने के लिए तथा इसमें सरकार, नागरीक समाज मिडिया एवं कार्यक्रम से जुड़े दाताओं को जोड़ने हेतु एक मैकेनिज्म विकसित किया गया जिससे न सिर्फ इसका विकास हो बल्कि इसमें ज्यादा से ज्यादा लोगों की सहभागिता सुनिश्चत की जा सके। जिला शिक्षा सूचना प्रणाली को व्यवस्थित करते हुए निर्देशित किया गया की वह नियमित अंतराल पर स्कूल से बाहर रहने वाले बच्चों की स्थिति और इसमें हुए प्रगति का मूल्यांकन गुणवता एवं मात्रात्मक आधार पर किया जाये। इसी तरह से जब 2009 में शिक्षा का अधिकार अधिनियम जब पारित किया गया तब इससे संबंधित रिपोर्ट एवं सूचनाओं को संसद तथ नागरिकों के लिए उपलब्ध कराया गया।[4]

बच्चों में शिक्षा व सर्व शिक्षा अभियान

बच्चों की शिक्षा के संदर्भ में दो बाधाएं स्पष्ट तौर पर सामने आती हैं– स्कूल पहुंचने की परेशानी व विपरित सामाजिक सांस्कृतिक परिदृश्य। 2001 में 14 मिलियन बच्चों का नामांकन प्राथमिक विद्यालयों में किया गया था। जो 6–14 वर्ष के कुल 20.24 मिलियन बच्चों की तुलना में कम था। इस प्रकार 2001 में कुल 6.24 मिलियन बच्चे स्कूल से बाहर थे। बच्चों में विद्यालय छोड़ने की दर प्राथमिक स्तर पर 52.3 प्रतिशत एवं उच्च प्राथमिक स्तर पर 69.5 प्रतिशत थी। जो अन्य बच्चों के विद्यालय छोड़ने की दर की तुलना में काफी उंची थी।[5]

2001–2006 के बीच अगर लक्ष्यों की बात करें तो सर्व शिक्षा अभियान के अंतर्गत इस अवधि में 133000 प्राथमिक विद्यालय एवं 106000 उच्च प्राथमिक विद्यालय खोले गये। जिनसे प्रत्यक्ष या परोक्ष तौर पर बच्चों को स्कूली शिक्षा से जोड़ने में काफी सहायता प्राप्त हुई और बच्चों के स्कूलों में नामांकन में काफी तेजी दिखाई पड़ी। अगर प्राथमिक स्तर पर देखें तो जहां कुल नामांकन में 15 प्रतिशत की वृद्धि हुई वहीं बच्चों के नामांकन में 25 प्रतिशत व इससे भी ज्यादा लड़कियों के नामांकन में 36 प्रतिशत की वृद्धि देखने को मिली। जो बच्चों के शैक्षणिक विकास में सर्व शिक्षा के महत्व को दर्शाता है। दूसरी तरफ उच्च प्राथमिक स्तर में जहां समूची नामांकन में वृद्धि दर 20 प्रतिशत थी वहीं नामांकन में 35 प्रतिशत व लड़कियों के नामांकन में 47 प्रतिशत की वृद्धि देखी गई। और प्राथमिक स्तर पर ड्रॉप आउट में 10 प्रतिशत की कमी दिखाई पड़ती है।[6]

2005 तक लगभग 1.66 मिलियन बच्चे स्कूल से बाहर थे।[7] इसलिए सर्व शिक्षा का प्राथमिक लक्ष्य इन बच्चों को स्कूल से जोड़ना व उनका नामांकन कराना था। बच्चों की बढ़ती नामांकन संख्या से पता चलता है कि इस अंतराल को पाटना ज्यादा मुश्किल नहीं होगा। जहां तक सुदुरक्षेत्रों की बात है तो यहां पर बच्चों को स्कूल पहुंचने में काफी सारी दिक्कतों का सामना करना पड़ता है जिसके कारण भी वे स्कूल नहीं आ पाते अगर उनकी इन समस्याओं को दूर कर दिया जाये तो निश्चित तौर पर बच्चों को स्कूल से जोड़ा जा सकता है।

अध्ययन क्षेत्र

धनबाद जिला झारखण्ड का अति जनाधिक्य वाला जिला है। जो देश में 42वें स्थान पर आता है। 1956 में यह अलग जिला बना। 2011 की जनगणना के अनुसार यहां की कुल आबादी 2397102 है जिसमें पुरूषों की संख्या 1278946 एवं महिलाओं की संख्या 1118156 है। यहां पर जनजातियों की आबादी 202729 है। जिसमें पुरूषों की संख्या103100 एवं महिलाओं की संख्या 99629 हैं। लिंगानुपात 908 हैं। यहां की साक्षरता दर 67.49 प्रतिशत है जहां पुरूष साक्षरता 80.03 प्रतिशत एवं महिला साक्षरता 52.93 प्रतिशत है। यहां पर कुल 590 प्राथमिक विद्यालय एवं 755 नये विद्यालय हैं। यहां का भौगोलिक क्षेत्र 801 वर्गकिमी है। यह जिला देश की कोयला राजधानी के नाम से प्रसिद्ध है। यहां पर मुख्यतया टाटा स्टील, भारत कोकिंग कोल लिमिटेड, इस्टर्न कोल फिल्ड लिमिटेड एवं इंडियन आयरन एण्ड स्टील कंपनी के कोयला खदान हैं। अगर रेल मुख्यालय की बात की जाये तो देश का यह दूसरा सबसे बड़ा राजस्व संग्रह करने वाला रेल केंद्र है। धनबाद जिला का उदभव मानभूम जिले के मुंडारी एवं कोलेरियन प्रजाति वाले भाग को काट कर बना है।

बच्चों पर सर्वशिक्षा अभियान का प्रभावः

बच्चों के स्कूल जाने की क्षमता, स्कूल की गतिविधियों में भागीदारी, सीखना व अपने जीवन में अमल में लाना आदि ऐसे परिप्रेक्ष्य हैं जो एक सकुशल एवं उन्नत समाज की आधारशीला रखते हैं। स्कूल एक ऐसी संस्था है जो समाज के ह्रदय का कार्य करती है। जिस प्रकार से ह्रदय शरीर में उपलब्ध रक्त की अशुद्धियों को दूर करता है ठिक उसी तरह से स्कूल भी बच्चों के विकारों को दूर करते हुए समाज में बेहतर सदस्य प्रदान करने का प्रयास करता है। राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1986 ने सार्वभौमिक शिक्षा को एक सशक्त हथियार के रूप में माना है जो असमानता व विभेद को दूर करने में कारगर भूमिका निभाता है। इसी की अगली कड़ी में शिक्षा का अधिकार अधिनियम 2009 ने इसी विचार धारा को आगे बढ़ाते हुए सभी बचचों को स्कूल जाने का अधिकार, प्यार व सुरक्षा के साथ देखभाल का अधिकार, समानता व प्रतिष्ठा के साथ व्यवहार प्रदान कराता है।[8] इन अच्छे विचारों व अच्छी नीतियों के बावजूद शिक्षा को लेकर जो प्रयास सरकार या अन्य माध्यमों के द्वारा किये जा रहे हैं वे बच्चों की शिक्षा के लिए नाकाफी साबित हो रहे हैं साथ ही इनमें बच्चों के शिक्षा की स्थिति को बेहतर नहीं कहा जा सकता हैं शिक्षा सिर्फ पढ़ने या पढ़ाने से ही संबंधित नहीं होती है बल्कि यह एक व्यक्ति को इस प्रकार से तैयार करती है जिससे वह अपने जीवन को बेहतर तरीके से जी सके। जिसमें असमानता का निपटारा करने की शक्ति हो, भेदभाव और विचारों पर कुठाराघात नहीं हो और विचारों को सही तरीके से प्रस्तुत कर पाने की आजादी हो।

इस अध्ययन में यह बात सामने आई है कि बच्चों की शिक्षा में अभिहित एवं निहित तत्वों का विशेष योगदान होता है। ये परिस्थितियां काफी महत्वपूर्ण होती हैं कि बच्चों के विद्यालय के बाहर क्या हो रहा है, विद्यालय के अंदर क्या हो रहा है तथा समाज के विचार उनकी शिक्षा के बारे में कैसे हैं? ये तीन ऐसी परिस्थितियां हैं जो बच्चों के शिक्षा को पूर्णतया प्रभावित करती हैं। सामाजिक प्रतिमान एवं मूल्य, अभिभावकों की संलग्नता, तथा नेतृत्वकर्ताओं का दबाव व सहभागिता बच्चों की शिक्षा को प्रभावित कर रहा है। इस़ जिले में राजनीतिक एवं सामाजिक विचारधारा व स्तरीकरण की प्रक्रिया में काफी अंतर दिखाई पड़ता है। समाज की आंतरिक व्यवस्था संस्कृति विश्वास एवं मूल्य काफी मायने रखते हैं और समाज के वरिशष्ठतम सदस्य यह उम्मिद करते हैं कि उनके समाज के बच्चे परिवार एवं समुदाय की आवश्यकता की शिक्षा पहले ग्रहण करें उसके बाद स्कूली शिक्षा दी जायें दूसरी ओर जाति धर्म व संप्रदाय के आधार पर भी समाज विभाजित हैं इसलिए यहां का समाज बच्चों को शिक्षित करने पर विशेष ध्यान देता है और उनकी घरेलू कार्यों में संलग्नता काफी कम होती है। इसलिए अगर यहां पर देखें तो सामाजिक आर्थिक व सांस्कृतिक परिस्थितियों ने बच्चों की शिक्षा को प्रभावित किया है।

यहां पर बच्चों की शिक्षा में बाधक तत्व के रूप में भाषा का काफी प्रभाव पड़ रहा हैं जो उनके शिक्षा से विलगाव का एक महत्वपूर्ण कारण है। अगर राज्य की भाषा या शिक्षकों की भाषा बच्चों की मातृभाषा से अलग होती है तो वैसी स्थिति में बच्चों को सही तरीके से शिक्षा प्रदान कर पाना संभव नहीं हो पाता। स्कूलों में नियुक्त शिक्षकों को अगर स्थानीय भाषा का ज्ञान नहीं है वैसी स्थिति में जब वे बच्चों से बातें करते हैं तो बच्चों को समझने में

परेशानी होती है और बच्चे व अभिभावक शिक्षक की उपयोगिता पर संदेह करने लगते हैं। इसी तरह से बच्चों को जो किताबें उपलब्ध कराई जाती हैं उनका प्रयोग व प्रभाव भी बच्चों पर सकारात्मक नहीं हो रहा है। गरीब परिवार से आने वाले बच्चों के अभिभावक हमेशा मौसमी प्रवासी की तरह काम की तलाश में एक जगह से दूसरे जगह आते जाते रहते हैं जिससे उनकी पढ़ाई के प्रति नियमितता नहीं बन पाती और पढ़ाई से वे मन चुराने लगते हैं। साथ ही प्रवासी प्रकृति के होने के कारण बच्चों में किसी एक भाषा को सीखने या प्रयोग करने के प्रति रूझान नहीं बन पाता और पूर्णतया किसी भी भाषा को समझ पाने में वे अपने आपको अक्षम समझते हैं।

शिक्षकों की नियमित अनुपलब्धता बच्चों को सही तरीके से शिक्षा नहीं प्रदान कर पाने का कारण रहा हैं यह सिर्फ इसलिए नहीं है कि शिक्षकों की कमी है बल्कि इसलिए भी है कि नियुक्त शिक्षक समय पर विद्यालय नहीं आते, इनकी जांच व देख रेख के लिए प्रखंड एवं जिला मुख्यालय स्तर पर जिन अधिकारियों व कर्मचारियों की नियुक्ति की गई है वे अपने कार्य को सही तरीके से अंजाम नहीं दे रहे हैं। शिक्षकों की यह लेटलतीफी बच्चों को विद्यालय से जुड़ने नहीं देती वहीं दूसरी ओर अभिभावक भी यही सोचते हैं कि स्कूल जाने के बाद भी अगर पढ़ाई नहीं होनी है तो बच्चों को क्यों न घर के ही किसी काम में लगा दिया जाये। जिससे काम में सहुलियत भी हो जायेगी और बच्चे कुछ काम करने के तरीकों को सीख भी लेंगे।

बच्चों की शिक्षा को सही तरीके से आगे नहीं बढ़ाने के पीछे स्कूल के स्तर पर स्थापित स्कूल प्रबंधन समिति की अकर्मण्यता हैं जो इतनी कुशल नहीं है कि गांव व समाज के सभी लोगों केा इसके साथ जोड़ सके या सही शिक्षा व्यवस्था के लिए उनको सक्रिय तौर पर अपने साथ कर पाये। विशेषरूप से पिछड़े समुदाय के लोगों को वे अपने साथ नहीं रखते क्योंकि इससे उनको समाज में अपने छोटेपन का एहसास होता हैं। दूसरी ओर बच्चों की कक्षाओं से अनुपस्थिति का कारण उनके गरीब परिवार से पिछड़े समूह से होना है। क्योकि ऐसी स्थिति में विविध कारणों जैसै कमजोर स्वास्थ्य, परिवार के अभिभावकों का प्रवसन, घरेलू कार्य की जिम्मेदारीयां विशेष तौर पर लड़कियों को, दैनिक मजदूरी के लिए अभिभावकों का काम पर चले जाना ऐसी स्थिति में बच्चे असहाय हो जाते हैं। और अपनी पढ़ाई के साथ न्याय नहीं कर पाते और शिक्षक उनको दूर करने लगते हैं।

आधारभूत सुविधाओं की उपलब्धता एवं छात्रों द्वारा उनका प्रयोग

विविध दशकों से यह प्रयास किये जा रहे हैं कि स्कूलों में कम से कम आधारभूत सुविधाओं की उपलब्धता सुनिश्चित की जाये जिससे बच्चों के पठन पाठन के कार्य में किसी भी तरह की कोई परेशानी न हो। जिसमें स्कूल भवन, टॉयलेट, हैंडपंप इत्यादी महत्वपूर्ण हैं। परंतु आज भी धनबाद़ जिले में बहुत से स्कूल ऐसे हैं जो कमजोर भवनो पर टिके हैं जहां पर पीने के पानी की सुविधा नहीं हैं टॉयलेट नहीं हैं। जिसके चलते न सिर्फ बच्चों की पढ़ाई बाधित होती है बल्कि बच्चे स्कूल से भी दूर भागते हैं। दूसरी तरफ जिन स्कूलों में टॉयलेट व पानी की सुविधा उपलबध है वहां पर साफ सफाई का काय कुछ बच्चों से कराया जाता है जिससे उनके मन में स्कूल से दूर रहने के विचाार विकसित होते हैं।

खेल की सुविधा एवं पुस्तकालय

अधिकांश स्कूलों में खेल की सुविधाओं का अभाव देखा गया। वहीं जहां पर इनकी उपलब्धता थी वह सिर्फ कुछ गिने चुने बच्चों के लिए अर्थात वैसे बच्चे जो शिक्षकों के व्यक्तिगत कार्यों में हाथों को बंटाते थे या उनके चहेते थे। उनको ही इनकी अनुमति थी। खेल की तरह ही लाइब्रेरी को भी कम महत्व दिया जाता है क्योकि इनकी उपलब्धता पर कोई विशेष ध्यान स्कूलों में नहीं दिया जा रहा हैं।

दूसरी ओर स्कूलों में प्रजातांत्रिक तरीके से नियम निर्धारित नहीं होते बल्कि यहां पर इनका निर्णय शिक्षकों के द्वारा होता है। और शिक्षक ही यह निर्धारित करते हैं कि बच्चे कक्षा के अंदर एवं बाहर कौन से काग्र करेंगे। इन कार्यों में खेल के मैदान को साफ करना, कक्षा एवं बरामदा की सफाई, टॉयलेट की सफाई, एमडीएम देने का स्थान, सब्जियों की सफाई इत्यादी कौन करेगा यह शिक्षक ही निर्धारित करते हैं। इसके अलावा उच्च कुशलता के कार्यों जैसे नृत्य करना, गाना गाना, भाषण देना, समाचार पत्र पढ़ना ये सभी शिक्षक के निर्देशन में ही संपादित किये जाते हैं। छात्रों को इन सभी कार्यों का आवंटन शिक्षक की व्यक्तिगत राय के बाद ही लिया जाता

हैं अगर शिक्षक किसी काम को न करने या करने का दबाव किसी भी छात्र पर डालता है तो वैसी स्थिति में उस छात्र को उसकी बातों को सुनना ही पड़ता है।

स्कूल के प्रकार्य एवं सुबह की प्रार्थना सभा

बच्चों के स्कूल की शूरूआत सुबह की प्रार्थना सभा से हेाती हैं इसमें शिक्षक छात्रों का चयन दो आधारों पर करते हैं लिंग के आधार पर और दूसरा ज्ञान के आधार पर।लड़कियों को गाना गाने में प्राथमिकता दी जाती है क्योंकि शिक्षको ंको लगता है कि वे सुर में गा सकती है और ज्यादातर अनुशासन में रहती हैं। यद्यपी लैंगिक आधार पर विभेद स्पष्ट एवं एकलकेंद्रिय होता है परंतु जब दूसरे प्रकार के चयन के आधार की बात होती है तो यहां पर शिक्षकों का भेदभाव पूर्ण रवैया स्पष्ट तौर पर दिखाई पड़ता हैं। जिसमें वे वर्ग एवं जाति के आधार पर बच्चों का चुनाव करते हैं। उनका मानना है कि वे ही बच्चे प्रार्थना सभा में अच्छा प्रदर्शन कर सकते हैं जो नियमित तौर पर विद्यालय जाते हैं। इसलिए जो बच्चे अनियमित तौर पर स्कूल आते हैं वे इस मौके को खो देते हैं।

कक्षाओं में बैठने की व्यवस्था व शिक्षक–शिक्षण संबंध

इस अध्ययन में यह बात स्पष्ट तौर पर सामने आई है कि बैठने के लिए निम्न तरह के तरीकों का प्रयोग विद्यालयों में किया जाता है–

1. ज्यादा तेज एवं कार्यो को तीव्रता से संपादित करने वाले बच्चे सबसे आगे की कतार में बैठते हैं जहां लड़के एवं लड़कियों के बैठने की अलग अलग कतारें होती है।
2. उच्च जाति से संबंधित या अच्छे परिवार से संबंधित या अच्छे कपड़े पहनकर आने वाले बच्चे आगे की कतार में बैठते हैं। वहीं जो बच्चे गरीब परिवार से होते हैं या फटे पूराने कपड़े पहनकर आते हैं वे पीछे की कतार में बैठते हैं।

निष्कर्ष

यह अध्ययन बताात है कि विद्यालयों में उपलब्ध निम्न या अपूर्ण आधारभूत संरचना भी कहीं न कहीं लैंगिक भेदभाव एवं बच्चों के विद्यालय छोड़ने के लिए जिम्मेदार रहा हैं इसलिए विद्यालयों में निश्चित तौर पर टॉयलेट, पीने के पानी और खेल के मैदान को बनाया जाना चाहिए। सर्व शिक्षा अभियान के माध्यम से आधारभूत संरचना के विकास के लिए फंड उपलब्ध कराये जाते हैं साथ ही साथ पहले से उपलब्ध आधारभूत संरचना की देखरेख एवं मेंटेनेंस के लिए भी फंड उपलब्ध कराये जाने चाहिए। जो काफी जरूरी प्रतित होता है।

सामुदायिक एवं स्कूल के स्तर पर खेल दिवस, राष्ट्रीय दिवस, मेट्रिक मेला, विज्ञान मेला एवं अन्य सांस्कृतिक गतिविधियों का आयोजन किया जाना चाहिए जिससे विद्यालय एवं समाज के स्तर पर विद्यमान भेदभाव को समाप्त किया जा सके। साथ ही सरकार को यह निर्देश भी देना चाहिए की इसका पालन आवश्यक रूप से सभी लोगों के द्वारा किया जाये।

इस प्रकार से इन विचारों एवं सुझावों को अमल में लाते हुए उपलब्ध आंकड़ों व निष्कर्ष की सहायता से बच्चों में शिक्षा के विकास को आगे बढ़ाया जा सकता है।

संदर्भ सूची

1. गवर्मेंट ऑफ इंडिया (2010), सेलेक्टैड एजुकेशन स्टैटिक्स वेरियस इयर्स फ्रॉम 2003–04, नई दिल्ली, डिपार्टमेंट ऑफ एजुकेशन, मिनिस्ट्री ऑफ हयूमन रिसोर्स डेवलपमेंट
2. किंगडॉन, जी. (2009), द इकोनोमिक बेनिफिटस ऑफ एजुकेशन इन इंडिया, जर्नल ऑफ द लखनउ मैनेजमेंट एशोसियेशन, 4थी एनुअल इश्यू, नवंबर.

3. मजुमदार, एम एण्ड मोइजी, जे (2011), एजुकेशन एण्ड इनइक्वालिटी इन इंडियाः ए क्लासरूम व्यू, राउटलेज, लंदन

4. मुरलीधरन, के एण्ड क्रेमर, एम (2006), पब्लिक एण्ड प्राइवेट स्कूलस इन रूरल इंडिया, मोबिलाइजिंग द प्राइवेट सेक्टर फोर पब्लिक एजुकेशन कांफ्रेंस वॉल्यूम, केनेडी स्कूल ऑफ गवर्मेंट, हावर्ड युनिवर्सिटी,हावर्ड

5. विरभद्रनिका, पी, कुमारन आर.एस., टुकदेव,एस एण्ड वासवी ए आर (2012), द एजुकेशन क्वेश्चन फ्रॉम द परसपेक्टिव ऑफ आदिवासीः कंडिसंस, पॉलिसीस एण्ड स्ट्रक्चरस, नेशनल इंस्टिच्युट ऑफ एडवांस्ड स्टडीज, बैंग्लोर

6. नमबीसन, जी (2009), एक्सक्लसन एण्ड डिस्क्रीमिनेशन इन स्कूल्सः एक्सपिरियेंसेस ऑफ दलित चिल्ड्रेन, इंडियन इंसटिच्यूट ऑफ दलित स्टडीज एण्ड युनिसेफ.

7. सिंह,ए.के. (2011), स्टडी ऑफ द रोल ऑफ वीइसी/पीटीए/एसडीएमसीस/अर्बन लोकल बॉडिज इन स्कूल मैंनेजमेंट एण्ड सुपरविजन इन द कन्टेक्स्ट ऑफ एसएसए, नेशनल युनिवर्सिटी ऑफ एजुकेशनल प्लानिंग एण्ड एडमिनिस्ट्रेशन, नई दिल्ली

8. रामचंद्रन, वी (2009), द एलिमेंट्री एजुकेशन इन इंडियाः एक्सप्लोरिंग इंस्टिच्युशनल स्ट्रक्चर, प्रोसेस एण्ड डायनामिक्स, राउटलेज, नई दिल्ली.

•••

देश की खुशहाली और तरक्की में बाधक भ्रष्टाचार

डॉ0 आलोक कुमार कश्यप
एसोसिएट प्रोफेसर, समाजशास्त्र विभाग
एम0 बी0 एस0 पी0 जी0 कालेज
गंगापुर ,वाराणसी, उ0प्र0

भ्रष्टाचार किस प्रकार देश को दीमक की तरह खाये जा रहा है उसका सबसे बड़ा उदाहरण तो हमारे विधायक और सांसद हैं। सभी जानते हैं कि उनको अपने कार्य के लिए कितना वेतन और भत्ता मिलता है? परन्तु देखते ही देखते उनके महल खड़े हो जाते हैं, करोड़ों की अचल सम्पत्ति बन जाती है और अच्छा–खासा बैंक–बैंलेस जमा हो जाता है और आश्चर्य की बात यह है कि लोग इस विषय में ऐसे बात करते हैं कि जैसे यह एक आम बात हो, जिस जनता ने उनको चुनकर संसद या विधानसभा तक पहुँचाया है, वह यह प्रश्न तक नहीं करती कि उनके पास इतना धन आया कहाँ से? वे लोग यह भी नहीं सोचते कि जो पैसा आम जनता के कर के रूप में वसूला जाता है, देश के विकास के लिये है, उसका न जाने कितना बड़ा हिस्सा तो इन लोक प्रतिनिधियों के जेब में चला जाता है। दूसरी ओर अधिकांश सरकारी कर्मचारी हैं, जो बिना घूस लिये कोई काम नहीं करते। एक गरीब आदमी अपना राशनकार्ड भी बनवाने जाता है तो इन बाबुओं को घूस खिलाना ही पड़ता है और वह गरीब बेचारा यह सब करता इसलिए है कि यदि वह रिश्वत नहीं देगा तो उससे अधिक पैसा तो दफ्तर के चक्कर काटने में ही खर्च हो जायेगा। जब उस बाबू से पूछो तो कहेगा कि हमें ऊपर तक पहुँचाना पड़ता है। यह अब एक व्यवस्था का हिस्सा बन गया है, इस पर किसी को कोई ऐतराज ही नहीं होता, लोग यह सोचकर पैसे देकर जाते हैं कि बिना पैसे के तो काम होना ही नही हैं। और तो और समाजसेवा का दावा करने वाले एन. जी.ओ. भी पैसा बनाने का माध्यम बन गये हैं। कुछ को छोड़कर अधिकांश गैरसरकारी संगठन विभिन्न दानदाता एजेसिंयों से पैसा लेकर कागजो पर समाजसेवा करते रहते हैं और उन पर नजर रखने वाले अधिकारी और कर्मचारी भी रिश्वत लेकर चुप हो जाते है। हमारा पुलिस प्रशासन भी भ्रष्टाचार से अछूता नहीं रहा है। यहाँ सभी तो नहीं लेकिन ज्यादातर पुलिस चाहे वह आफिसर हो या फिर कांस्टेबल सभी अप्रत्यक्ष रुप से रिश्वत के दल–दल में लिप्त है। थोड़े से पैसों के लिए पुलिस द्वारा वह कार्य कर दिया जाता है जिससे प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से जनता को नुकसान पहुँचता है। देश की तरक्की और भविष्य के लिए सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि सारी लोकतांत्रिक संस्थाओं को एक दूसरे का सम्मान करना चाहिए, क्योंकि जब तक लोकतंत्र के पाए मजबूत नहीं होंगे तबतक देश की खुशहाली और तरक्की नहीं होगा।

स्वतंत्र भारत में भ्रष्टाचार एक महत्त्वपूर्ण मुद्दा बन चुका है, इसका कारण यह है कि आज दैनिक जीवन का कोई भी कार्य ऐसा नहीं है जिसमें भ्रष्टाचार न हो। घर गृहस्थी के साधारण सामान से लेकर जीवन की बड़ी जरूरतों की पूर्ति में हमें प्रतिदिन भ्रष्टाचार से दो–चार होना पड़ता है। उदाहरण के लिए राशन की दुकान पर भी अपनी बारी पहले आने के लिए लोग तिकड़मबाजी आजमाते हैं और इस प्रकार भ्रष्टाचार आरम्भ हो जाता है जो कि बड़े स्तर पर सरकारी फाइलों के रूप में सामने आता है तथा तब सरकारी फाइलें ऐसी दब जाती हैं कि उनकी खुलने की बारी ही नहीं आती है। इसका कारण यह है कि हम कहने को तो स्वतंत्र हुए हैं, परन्तु आज भी हम उसी ब्रिटिश कालीन गुलामी की व्यवस्था से जूझ रहे हैं, जिसमें कि हर भारतीय को एक क्षुद्र व्यक्ति से अधिक कुछ नहीं समझा जाता था तथा गोरे अंग्रेज अधिकारी किसी भारतीय के कार्य को पहले तो करना ही नहीं चाहते थे और यदि करना भी चाहें तो तब, जब उन्हें मनमाफिक घूस मिल जाये और इस पर भी वह इसे अपना अहसान समझते थे। आज भी हमारे देश में साधारण से कर्मचारी की भी यही मानसिकता होती है और इस तरह वह मानसिक रूप से आज भी गुलाम है। इसी तरह का विवरण प्रसिद्ध विचारक मार्क टुली इस

प्रकार देते हैं– दरअसल स्वतंत्रता मिलने के बाद हमने लोकतांत्रिक व्यवस्था को तो अपना लिया, लेकिन उसका लाभ आम आदमी तक ठीक से नहीं पहुँच सका। इसकी सबसे बड़ी वजह यह है कि औपनिवेशिक प्रणाली में जो खामियाँ थी उन्हें दूर नहीं किया गया। जो संशोधन और सुधार होने चाहिए थे वे नहीं हुए। मसलन भारत में आज भी अंग्रेजों के जमाने के अनेक कानून लागू हैं। देश की तरक्की और भविष्य के लिए सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि सारी लोकतांत्रिक संस्थाओं को एक दूसरे का सम्मान करना चाहिए, क्योंकि जब तक लोकतंत्र के पाए मजबूत नहीं होंगे, देश मजबूत नहीं होगा। गरिमा शर्मा लिखती हैं कि– हमाारी संवैधानिक संस्थाओं पर व्यक्ति विशेष का प्रभाव है– जिसमें मंत्री, नौकरशाह या अधिकारी शामिल हैं, जिसके परिणामस्वरूप सभी संस्थागत कार्यप्रणाली को आसानी से नजरअंदाज किया जा सकता है। यह प्रवृत्ति हालांकि दुनिया भर में हो सकती है, लेकिन भारत के मामले में यह ज्यादा अतिरंजित है। इसकी वजह यह है कि हमारी प्रणाली में व्याप्त खामियों और विकृतियों ने आजादी के बाद से लेकर अब तक हमारी राजनीति का आकार तय किया है। इसके अलावा आर्थिक मामलों में राज्य की दखलंदाजी बहुत ज्यादा रही है और कांग्रेस के वर्चस्व के कारण आम जन में राजनीतिक जागरूकता का अभाव रहा है। इस वजह से सरकारी कर्मचारियों को अभूतपूर्व अधिकार मिल गये, इंदिरा गाँधी और आपातकाल के दौरान यह प्रवृत्ति खासतौर पर देखी गई। इस दौरान नौकरशाहों और सरकारी अधिकारियों को नाटकीय तरीके से बढ़ावा दिया गया, जिससे उनके भ्रष्टाचार और अपराधों पर नियंत्रण नहीं लगाया जा सका। आगे वे लिखती हैं कि भ्रष्टाचार की इस प्रवृत्ति को 1991 ई0 के आर्थिक उदारीकरण की नीति ने और भी बढ़ावा दिया। इससे नवधनाढ्य वर्ग को जहाँ अधिक से अधिक संपत्ति जमा करने का आसान रास्ता मिला, वहीं अमीर और गरीब के बीच का फासला भी बढ़ा। इस तरह 1991 ई0 के बाद भ्रष्टाचार के मामलों में जो तेजी आयी उससे आम आदमी बुरी तरह से प्रभावित हुआ और आज हकीकत यह है कि लोग भ्रष्टाचार से आजिज आ चुके हैं। उन्हें जन्म प्रमाण पत्र से लेकर मृत्यु प्रमाण पत्र, स्कूल में दाखिला, राशन कार्ड या रोजमर्रा से जुड़े किसी भी काम के लिए घूस देनी पड़ती है। राष्ट्रमण्डल खेल और 2जी स्पेक्ट्रम जैसे घोटालों के उजागर होने के बाद वे बढ़ती महंगाई और बेरोजगारी को उच्च स्तर पर मची लूट से जोड़कर देख रहे हैं। सरकार की विफलता को सामाजिक कार्यकर्ता राम पुनियानी कुछ यों स्पष्ट करते हैं– महंगाई और भ्रष्टाचार विकराल रूप से हमारे सामने हैं। आम लोगों का जीवन कठिन होता जा रहा है। निराशा इस कारण भी है कि समस्याओं से निपटने की कोई कोशिश सरकार में नजर नहीं आती, पता नहीं उसे यह सीख कहाँ से मिली कि सत्ता में रहते हुए विपक्ष की तरह चिल्लाओ, सवाल उठाने वालों पर कीचड़ उछालो, अमर्यादित भाषा का इस्तेमाल कर दूसरों की नैतिकता को खत्म कर दो। स्पष्ट है कि सरकार समस्याओं से निपटने के लिए ईमानदारी से कोशिश नहीं करती बल्कि केवल शब्दजाल और महज कार्रवाई की खानापूर्ति कर मामले को टाल देती है। यही कारण है कि आज अन्ना हजारे के आन्दोलन को इतना व्यापक जनसमर्थन मिल रहा है।

भ्रष्टाचार अर्थात बिगड़ा हुआ आचरण, लोक प्रशासन में इसका अभिप्राय ऐसे आचरण से है जिसकी आशा लोक सेवकों से नहीं की जाती है। यदि लोक प्रशासक अपनी शक्ति, सत्ता एवं स्थिति का प्रयोग जन सामान्य के लाभों की अपेक्षा अपने व्यक्तिगत लाभों के लिए करने लगें तो यही भ्रष्ट आचरण माना जाता है। ये भ्रष्ट आचरण अनेक प्रकार के हो सकते हैं। जैसे– किसी व्यक्ति का कोई कार्य कर देने या कार्य न करने पर घूस अथवा दूसरे प्रकार का आर्थिक लाभ लेना। अपने सम्बंधियों को नौकरी दिलाना, भेंट स्वीकार करना, बेईमानी, गबन, रिश्वत, अनुचित एवं अवैध रीतियों से पैसा लेना, व्यापारिक संस्थाओं पर इस दृष्टि से एहसान करना ताकि वहाँ लोक सेवकों के पुत्र–पुत्रियों को रोजगार मिल सके, अपनी सरकारी स्थिति और प्रभाव का स्वार्थ सिद्धि के लिए दुरुपयोग करना आदि।

इलियट और मेरिल "प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष लाभ की प्राप्ति के लिए स्वेच्छा से निश्चित कर्तब्यों का पालन न करना ही भ्रष्टाचार है।"

जे.नाथ का कहना है कि ''भ्रष्टाचार निजी लाभों के लिए सार्वजनिक पद के दुरुपयोग को दर्शाता है।

अल्टास ने भ्रष्टाचार को परिभाषित करते हुए कहा है कि ''भ्रष्टाचार अपने निजी लाभ की प्राप्ति के लिए लोगों के विश्वास के साथ छल करना है''।

कन्साईसेज आक्सफोर्ड शब्दकोश में भ्रष्टाचार का अर्थ है ''रिश्वत अथवा अवैधानिक और अनुपयुक्त साधनों से गलत या अनैतिक कार्य की ओर उन्मुख होना तथा सही और नैतिक कार्यों से विरक्त होना'' भ्रष्टाचार है।
कौटिल्य ने अपनी पुस्तक अर्थशास्त्र में भ्रष्टाचार के 40 प्रकारों का उल्लेख किया है। उसके शब्दों में ''जिस प्रकार जीभ पर रखे हुए शहद का स्वाद न लेना असम्भव है,उसी प्रकार किसी शासकीय अधिकारी के लिए राज्य के राजस्व के एक अंश का भक्षण न करना असम्भव है''।

भ्रष्टाचार के सम्बंध में, सन् 1948 में **महात्मा गाँधी** द्वारा की गई वह टिप्पणी अधिक महत्त्वपूर्ण है कि ''भ्रष्टाचार जैसे मसलों के प्रति उदासीन रहना अपराध है।'' महात्मा गाँधी का उक्त कथन भ्रष्टाचार के प्रति उनके गम्भीर दृष्टिकोण एवं हृदय की वेदना को अभिव्यक्त करता है। अनुभव से यह परिलक्षित होता है कि सार्वजनिक जीवन का कोई भी क्षेत्र भ्रष्टाचार से अछूता नहीं है। इसके प्रतिकूल प्रभाव से आज की भारतीय राज्य व्यवस्था गंभीरता से संक्रमित हुई है।

समाज और शासन की व्यवस्था को सुव्यवस्थित ढंग से संचालित करने के लिए सार्वजनिक हित में व्यवहार के कुछ आदर्श प्रतिमान सुस्थापित है। उनसे नैतिकता, कर्तव्यनिष्ठा, पद एवं सत्ता का सदुपयोग मुख्य रूप से सन्निहित किए जा सकते हैं। ये प्रतिमान स्वस्थ समाज की परम्पराओं पर आधारित है। सामाजिक व्यवस्था की सुदृढ़ता इन पर ही निर्भर है। अतएवं प्रत्येक समाज इनका पक्षधर है। ये प्रतिमान ही नैतिक आदर्शों के प्रतिरूप माने जाते हैं। इनका पालन ही नैतिक आचार अथवा सदाचार है तथा इनका उल्लंघन भ्रष्टाचार है। अतः मान्य एवं सुस्थापित नैतिक आदर्शों के विपरीत किए जाने वाले व्यवहार भ्रष्टाचार के द्योतक है। अनैतिकता, असहिष्णुता, कर्तव्य की उपेक्षा एवं निजी हित के लिए पद एवं सत्ता का दुरुपयोग आदि इसका प्रतिनिधित्व करते हैं।

भ्रष्टाचार का अर्थ दो रूपों, संकीर्ण एवं व्यापक, में किया जाता है। संकीर्ण रूप में इसका अर्थ केवल घूस अथवा आर्थिक लाभ प्राप्त करना माना जाता है। भ्रष्टाचार के व्यापक रूप में अपने निजी स्वार्थपूर्ण उद्देश्यों के लिए सार्वजनिक पद अथवा सत्ता का दुरुपयोग करते हुए नकद धनराशि अथवा भेंटों और उपहारों के रूप में सब प्रकार की बेईमानी से प्राप्त लाभों का समावेश होता है।
भ्रष्टाचार के कारणों पर गौर किया जाय तो अनेक कारण उभरकर सामने आते है जैसे–व्यापारियों एवं राजनीतिज्ञों में बढ़ती नजदीकियॉ, बढ़ता व्यक्तिवाद एवं भौतिकवाद की भावना, भ्रष्टाचार उन्मुलन के कारगर तरीको का अभाव, विकास के असमान अवसर, निर्धनता, चारित्रिक एवं नैतिक पतन होना, अधिक पूजी संग्रह की प्रवृति, अधिकारों के प्रति समुचित जानकारी का अभाव,वेकारी, अपर्याप्त वेतन, अत्यधिक प्रतिस्पर्धा, इत्यादि कारण दिखायी देते है। जिनसे भ्रष्टाचार बढ़ता जा रहा है।
भ्रष्टाचारियों की श्रेणी में भारत के पूर्व प्रधानमंत्री राजीव गाँधी से जुड़ा बोफोर्स तोप काण्ड, नरसिम्हा राव से सम्बंधित यूरिया घोटाला तथा झामुमो रिश्वत काण्ड मुख्य हैं। अभी तक इन पर आरोप साबित नहीं हुए हैं। नित्य प्रतिदिन भ्रष्टाचार के नये–नये प्रकरण सामने आते रहते हैं इनमें हवाला काण्ड तहलका प्रकरण, स्टाम्प घोटाला, शेयर घोटाला, ताज कॉरीडोर प्रकरण, सेंट कीट्स मामला, संचार घोटाला, पशुपालन घोटाला, पेट्रोल पम्प आवंटन घोटाला, नोएडा प्लाट आवंटन घोटाला,टूजी स्पेक्ट्म घोटाला,आदर्श घोटाला सामने आये हैं। जिसमें राजनेताओं व प्रशासकों की संलिप्तता पाई गई है। सारॉश रूप में, यह कहा जा सकता है कि प्रशासन में व्याप्त भ्रष्टाचार को मिटाने के लिये भारत सरकार द्वारा अनेक प्रयास किये गये। सन् 1946 में भ्रष्टाचार निवारण अधिनियम पास किया गया। सन् 1946 के एक अधिनियम के अन्तर्गत, दिल्ली विशिष्ट पुलिस संस्थान की स्थापना की गई थी। यह संस्थान अब केन्द्रीय जॉच ब्यूरों के जॉच एवं भ्रष्टाचार विरोधी सम्भाग का ही एक अंग है। समय–समय पर भ्रष्टाचार की समस्या तथा उसके समाधान के लिये बनाये गये कानूनों की समीक्षा सरकार द्वारा नियुक्त की गई विशेष कमेटियों द्वारा की जाती रही है। इन समितियों (कमेटियों) में से कुछ हैं : बख्शी टेकचन्द समिति (1949), रेलवे भ्रष्टाचार जॉच समिति (1953), भ्रष्टाचार निवारण की सन्थानम समिति (1963) और प्रशासनिक सुधार आयोग (1966)। इस दिशा में अन्य महत्वपूर्ण पग सन् 1955 में यह उठाया गया कि गृह मंत्रालय में प्रशासनिक निगरानी सम्भाग और अन्य मंत्रालयों या विभागों में निगरानी इकाइयॉ स्थापित की गईं। इनकी स्थापना इस उद्देष्य से की गई थी कि सरकारी अधिकारियों द्वारा किये जाने वाले भ्रष्टाचार एवं सत्ता के दुरुपयोग की जॉच तथा सम्बन्धित व्यक्तियों को दण्डित किया जा सके। भ्रष्टाचार को पूर्णतः नष्ट करना बड़ा कठिन कार्य है।

नैतिकता के ह्रवास के कारण समाज में भ्रष्टाचार पनपता है। अतः भ्रष्टाचार का सम्बन्ध सामाजिक एवं साँस्कृतिक विरासत, नैतिक मूल्यों, पराम्पराओं तथा पर्यावरण प्रभावो से बहुत गहरा है। भ्रष्टाचार आज एक विकराल रूप धारण कर चुका है अतः इसे नष्ट करना अत्यधिक कठिन है लेकिन इसे कम अवश्य किया जा सकता है।

निष्कर्ष :-

भ्रष्टाचार की जड़ें पाताल तक पहुंच गई हैं। हमारा राष्ट्र व राज्य भ्रष्टाचार के कैन्सर से ग्रसित है। समस्त विकास की योजनायें अपेक्षित प्रगति नहीं कर सकी हैं। कैन्सर की भांति भ्रष्टाचार की व्याधि का निदान सम्प्रति संभव नहीं है। विलासिता के आधुनिक युग में, शालीनता, सरल जीवन और उच्च विचार अर्थहीन से हो गये है। आज गीता का कर्मवाद और वेद पुराणों की वाणी पुस्तको ंतक ही सीमित रह गई है। आज राष्ट्र भ्रष्टाचार की विभीशिका से मुक्ति पाना चाहता है, परन्तु इसे दिवास्वप्न ही कहा जा सकता है। विद्वान विचारक **एडमन्ड बर्क** के द्वारा व्यक्त किये गये विचार अत्यन्त सामयिक हैं कि ''जहां अधिकांश प्राणी भ्रष्टाचार में आकंठ डूब चुके हैं वहां स्वतंत्रता चिरकाल तक स्थापित नहीं रह सकती है''। लोक सेवक के विरूद्ध प्रायः षिकायतें की जाती रहती हैं और कभी–कभी ट्रैप का आयोजन किया जाता है और पुनः भ्रष्टाचार की गंगा यथावत बहती रहती है। ऐसी कार्यवाही ''टिप ऑफ आइसबर्ग'' ही कहा जा सकता है। भ्रष्टाचार के अनवरत वृद्धि के लिये अनेकों कारण हैं। अतः एक स्थायी राष्ट्र नीति का सृजन किया जाना अनिवार्य है।

समय परिवर्तनशील है। समय के साथ व्यक्ति और समाज के चिंतन में परिवर्तन होता है। वस्तुतः यही वह मार्ग है जिससे राज्य में व्याप्त अत्यन्त जटिल तथा आग्रही समस्याओं की विकरालता के संदर्भ में भ्रष्टाचार एवं मूल्यहीनता जैसी कुप्रवृत्तियों पर शीघ्र ठोस तथा निर्णयात्मक कार्यवाही हेतु हमें दष्ढ़ संकल्पित होने के साथ–साथ विवेकसम्मत क्रियान्वयन की सम्बद्धता भी सुनिश्चित करनी होगी। इतिहास साक्षी है कि संकल्प, विवेक तथा अनुभव तीनों शक्तियां जब भी एक साथ हुई हैं, तब–तब नवजागरण नये आयाम तथा नई क्रियाशक्ति का मार्ग प्रशस्त हुआ है।

अतः स्पष्ट है कि जिस तरह भ्रष्टाचार आज एक नासूर बन चुका है, ऐसी स्थिति में उसका शीघ्र इलाज किया जाना आवश्यक है अन्यथा यह नासूर जब लाइलाज बन जाएगा तो इसके परिणाम कितने भयावह होंगे यह सोचना कठिन है। अतः ऐसी स्थिति में आवश्यक है कि जनलोकपाल हो या कोई और कानून, जिससे भी हो और जैसे भी हो भ्रष्टाचार पर अंकुश लगाना अति आवश्यक है तथा सरकार को इससे निपटने के लिए स्वस्थ मन व ईमानदारी से प्रयास करने चाहिए, जिससे कि जल्दी से जल्दी इससे छुटकारा पाया जा सके, तभी हम स्वस्थ समाज की कल्पना कर सकते हैं।

संदर्भ सूची

सिविल सर्विसेज क्रानिकल – 2004

Ram Ahuja; "Social Problem, Rawat Publication, New Delhi

Ellioatt and Merrill, social Disorganisation, p.525

कन्साइज आक्सफोर्ड शब्दकोश, पृष्ठ – 45

श्रीवास्तव पी0 बालेश्वरी – नैतिकता, राजनीति और भारत (एक लेख) पालिटिक्स इंडिया नवम्बर–1998, पृष्ठ 39

अर्चना लोक प्रशासन, अर्चना पब्लिकेशन प्रा0लि0 नई दिल्ली पृष्ठ – 442

पी0एस0 अप्पू ''अफसर शाही एक कदम आगे'' योजना (नई दिल्ली 15 अगस्त 1985

दैनिक हिन्दुस्तान अगस्त 6, 2006

इल अग्रवाल, संतोष कुमार, भारत में भ्रष्टाचार और उसमें मुकाबाला, राधा, पब्लिकेशन – 2007, पृष्ठ –47

इण्डिया टुडे 16 फरवरी 2000 पृष्ठ–21,

बी0एल0 फाड़िया, लोक प्रशासन, पृष्ठ–564

●●●

Marital Captivity under the era of Globalisation: A Sociological analysis

Suman Srivastava
Research Scholar, P.G.Department of Sociology,
Ranchi University, Ranchi

The process of globalization sweeping the world is exerting its unnoticed forces to redefine 'marriage' and 'family'. The forces of globalization and market are influencing the family structure and marriage norms to a large extent. Institution of marriage and the existence of a 'family' as a unit have found a new meaning. This new meaning is very often dictated by the market forces. The notion of family is shrinking, from polygamous marriage to monogamous marriage and "Live-in-relationship". This move that has been precipitated by the process of globalization has both positive and negative fallouts. This new found freedom promotes acceptance of an indivisual as an "self identified person" for such a process and allows the individual to democratize and negotiate better living conditions. Women find their freedom to enter job market and earn enough for buying all material needs. Modernity has promoted women's empowerment through education, legal reforms, political power, economic and personal autonomy, and social mobilisation for gender justice.

Women, though allowed to earn, are incapacitated by lack of control over their own resources and earnings and suffer discrimination and violence. Thus the changes are more superficial than penetrating. The women may have entered the public arena, but the family values dominate and marital captivity is kept as a closely guarded secret. In the private arena, at the level of the marriage, the marriage is still dominated by patriarchal norms. Many traditional values and norms take new forms which may be detrimental to old social arrangements, such as providing family support systems to women. According to studies, one of the definite fallouts of globalization and marketization has been growing incidence of marital captivity on women. The important questions at this point are whether the process of globalization and the market forces and changing societal structures is inducing more violence into the lives of women, or they provide a new power in hands of women to come out of the patriarchal dominance and exert their rights to fight violence.and have independency in their personal life.

This paper shall analyse the impact of globalization and market forces on changing nature of marriage and its relationship with growing marital captivity in India. To understand the change in society and its influences on marriage in the context of globalization, some references have been drawn from studies and researches in Europe, United State, India and Japan in this paper. The paper attempts to put across a model for combating marital captivity and awareness towards the concept of marital captivity against women in the new era of globalization.

Key words: Globalisation, Women, Marital Captivity, East Asia, Patriarchy, Family

India has been ranked 114 in a list of 128 countries closely followed by Nepal (125) and Pakistan (126) on the Global Gender Gap report by the World Economic Forum (WEF). "The data captures the magnitude of the gap between men and women in critical areas including economic participation and opportunity, political empowerment, educational attainment, health and survival, female life expectancy and sex ratio at birth."[1] The incidence of crimes committed against women in India has seen a continuous rise over the years. Crimes against women increased.[2] However, the reported number of cases of marital captivity may grossly underestimate the true number of women experiencing marital captivity as many incidents go unreported owing to a lack of effective documentation, the stigma of victimization in Indian society, and fear of social disorganisation, all of which may inhibit distraught women from soliciting help. The condition of violence committed against women may be traced at its roots to the characteristically patriarchal structure of the family and society at large that fosters the imbalanced power ratio between men and women. The colossal transcendence of women in the work economy of the country since independence has had little effect in eliminating violence against them. There is a case of cruelty by husbands and relatives every nine minutes, and one dowry-death case every 77 minutes.[3]

Crime against women touched a new height in 2007 with **185312** registered cases of crime against women. The dowry deaths alone totaled at 8093 with 75930 other cases registered under the 498 (A) of Indian Penal Code, A cases of cruelty by husband or relative against the married women. In a recent study conducted by Family Health Survey it has been found that nearly five crore married women in India suffer from Marital captivity. Just 1 out of 1000 cases of marital captivity case gets reported. And out the 100 cases that are investigated under 498A of the Indian Penal Code (IPC), the accused gets conviction only in 2 cases.

The reported cases of marital captivity in India represent only the tip of the iceberg which means vast majority being socially and institutionally invisible[4]. As the "iceberg" image suggests, recorded or official cases represent only a minimal portion of

the problem of family violence in society. The majority of cases of violence fall "below the water line", invisible both socially and institutionally. In India, this iceberg theory has been reiterated by several studies, research papers and experience of NGOs working for the victims of marital captivity. For example, according to NFHS-3 Study[5], which was conducted in 2005-06, where 124,385 women in the age group of 15-49 years were interviewed. Overall, 39% of currently married women age 15-49 have ever experienced any physical or sexual or emotional violence in their current marriage and 27% have experienced the violence in the past 12 months. Thus, among all currently married women who have experienced physical, sexual, or emotional violence, more than two-thirds (68%) have experienced the violence in the past 12 months and are likely to be still at risk.

In Indiasafe 2000 multi-site study of nearly 10,000 households, 40 percent of the women reported experiencing at least one form of physical abuse and 26 percent reported severe physical abuse, including being hit, kicked, or beaten. UNFPA also reports that 40% of the women in India suffer marital captivity and abuse from male partner. Those that come forward often do so only after abuse have escalated to a point of severe, life-threatening violence. Records from the Special Cell for Women and Children in Mumbai, established by the Police Commission to provide a range of support services to women and their families, revealed that 43 percent of women endured marital captivity for 3-17 years before complaining to police[6] (Dave and Solanki 2000).

Census 2001 data shows that a total of 2,367,72,617 women are married. according to NFHS -3 data,. 81% of currently married women age 15-49 who have ever experienced physical or sexual violence by their current husbands, the first time was within five years of marriage. It also reports that 37% of currently married women aged 15-49yrs have experienced physical or sexual violence, and one in seven of all currently married women, have suffered an injury due to violence by their husbands.

Changing Institution of Marriage in India

Indian marriage systems are going through a major transition due to the impact of globalization on basic social values and institutions. The institution of marriage can be assessed by comparing and contrasting traditional and contemporary marriage patterns. The traditional pattern was marked by prominence of arranged marriages which were primarily oriented towards creating alliances between two families through "classical matchmakers" such as family priests and relatives. In such a marriage there was only a minor role for the bride and bridegroom in the context of decision-making regarding the marriage.

Contemporary marriage, however, is based more on an understanding between the about-to-be-married man and woman along with attention to the views of family elders. New "mediators" such as the media (matrimonial columns and matrimonial sites) and

marriage bureaus have also emerged, contributing to the rise of a nationwide, and sometimes transnational, system of information and choice-making in the context of marriage. Similarly there is a noticeable shift from an exclusive focus upon the physical attributes of the bride and economic assets of the bridegroom to the intellectual and economic characteristics of the bride and personality-related attributes and career prospects of the bridegroom.

Today, we see a slight shift in the way traditional marriages are arranged. The strong presence of the audio, video, and print media, supported by the Internet has influenced the marriage scene tremendously. Open any newspaper on a Sunday and we see hundreds of advertisements of prospective brides and grooms. Type the word "matrimonial" in any search engine, and see the list of countless websites for Asian marriages, Indian marriages, Hindu marriages, Muslim marriages, and Christian marriages. These matrimonial advertisements may sound amusing to the west but they are pervasive not only in India but in the entire South Asian region.

In earlier times, people tended to live in joint families and it was easier to find the prospective bride or groom from amongst the relatives of the family members. For example the eldest daughter-in-law of the house could suggest her maternal aunt's daughter as a match for her younger brother-in-law. However, as traditional families started breaking up, and people started moving to cities for work, this form of arrangement started to break down. So there was a need for an alternative system of finding the ideal bride or groom. And the print media such as newspapers and magazines came to the rescue. The audiovisual media soon followed. Today, the print media and the Internet provide the easiest and fastest method for finding a suitable partner. The role of "marriage arranger" who used to be a priest or a relative has been taken over by the new media.

Marriage Bureaus are popping up like mushrooms. Depending on how much we are willing to pay, they do anything from giving the "right advertisement" in the media, scrutinizing the resumes, sending the selected resumes for your approval, arranging the meeting of the two families, and also undertaking private investigation to check for the character and the details mentioned in the resume of the prospective candidate. They plan the weddings and take commission as a percentage of the amount spent on the marriage! Needless to say their businesses are booming because they keep themselves updated with the latest trends in the marriage market.

A glance at the marriage advertisements confirms that religion, caste and sub-caste continue to dominate as criteria for spousal selection. The advertisements are arranged according to the castes and sub-caste and invite responses from families belonging to the same class or caste. The only change, over time, is in the method by which marriages are arranged, and not in the parameters by which a suitable match is evaluated.

Marriage, Market and Dowry related violence

The major influence that has been cast by globalization is an over-exposure to, and increased presence of worldly pleasures and luxury items, which are now essential items of dowry. The markets are flooded with household goods such as refrigerators, televisions, audio systems, DVD players etc. The bride's family is expected to give the latest model of these branded items as dowry or gifts at the time of marriage. It is an issue of prestige and the status of the family depends upon it. Dowry (and bride price in certain communities) has always had a universal presence in Indian marriage. The list of items in dowry or items given as gifts to the groom's family has changed over the years according to the market trends. But they are all there in some form. The more educated the boy, the more the demand for dowry and the more lavish the party. The dowry can vary from household items to fancy cars and apartments.

The story does not end here. The bride's family is also expected to throw a lavish and extensive marriage party, which may be preceded by cocktail dinners and Ladies Sangeet (a day when songs of marriage are sung), and the Mehndi Night (where henna is put on the hands and feet of the bride by her friends and relatives). The bride's family has to spend a huge amount to call the party to sing the marriage songs and the henna could cost anywhere from Rs. 100 (US$2.20) to Rs. 10,000 (US$220) for a hand depending upon the social status and the family's ability to pay. Beauty parlours would charge anywhere between Rs. 2000 (US$44) and Rs. 20,000 (US$440) for the bridal make-up. There are "month before marriage" beauty packages available that could cost anywhere between Rs. 5,000 (US$110) and Rs. 20,000 (US$440).

The bride's family is also expected to pay for all the rituals that precede the marriage and that happen at the time of marriage. This includes the fee of the priest, the arrangements made for the rituals, and the gifts to be given to the boy's family and the relatives.

Polishing schools are also flourishing, and it is the fashion to attend these schools before marriage. Since most households are large families, where the boy shall be staying with his parents even after marriage, the innovators in the marriage market have started "Training Schools for Prospective Daughters-in-law", where the girls are being trained on how to get along with their mothers-in-law and how to fit exceptionally well into the traditional role of an ideal daughter-in-law. These schools are gaining popularity amongst the middle-class.

The India daily soap opera industry is highly influenced by the marriage institution, and barring a few T.V. serials, which have few takers, the entire visual media is dominated by the "Mother-in-law & Daughter-in-law" episodes. These T.V. daily soaps on one hand show the "New Woman", who is independent, intellectual, and a decision-maker and on the other hand show women as traditional, homemaker, and the ideal daughter-in-law. This new image of women, for which the serial directors are largely

responsible, (though they would say that they make films only about what the people want to see), puts them in a double-edged bind. A woman is supposed to work and earn for the family as well as do the household chores with the same vigour and enthusiasm as their non-working mothers-in-law display or used to display.

This double jeopardy is a result of the new marriage norms that have been slowly evolving. The boy looks for a girl who is beautiful, smart, intellectual, and sporty because she has to accompany him at all company dinners and parties and yet she should be traditional because she has to gel with his mother and father and fit into the traditional role.

The roles of men are changing, but for women they are causing an excess burden. A look at the marriage advertisements shows that the boys' families look for a fair, slim, convent-educated, professional girl from a respectable family. Some even hint at the expected dowry. They also want a working girl. In addition to all this, the girl should also be homely and should know cooking and be able to manage the house. Moreover, there is no decrease in the amount of dowry, even if the girl possesses all the desired characteristics.

The latest National Crimes Record Bureau data shows that dowry deaths and torture by husband has been increasing. If we include all the marriage related violence, the data shows that there is a consistent increase in cases related to dowry deaths and violence by husband and his family on the bride. Moreover, among all categories of CAW, Cruelty by Husband and Relatives has shown an increase of 20.3 between the years 2006 to 2007. Thus, the globalization and economic power in fact are precipitating marital captivity because there is a greater demand of resources. There is an increasing need of commodities and luxuries.

INSTITUTIONAL MECHANISM: Protection Of Women From Marital captivity

This enactment is a big step in the direction of fighting marital captivity against women and goes a long way in protecting the women from violence in a domestic set up. Women could always approach the Courts under the IPC but the provisions were never so expansive. The term 'marital captivity' has never been used in IPC nor is it a gender specific law. The criminal law basically dealt similar cases of cruelty against married women, all other acts of marital captivity were not specifically criminalized.

Also, no protection or residence orders were given to enable the woman to continue staying in the matrimonial house. This greatly restricted the women from approaching the Courts as most of them are dependant on their assailants and live under the fear of being turned out.

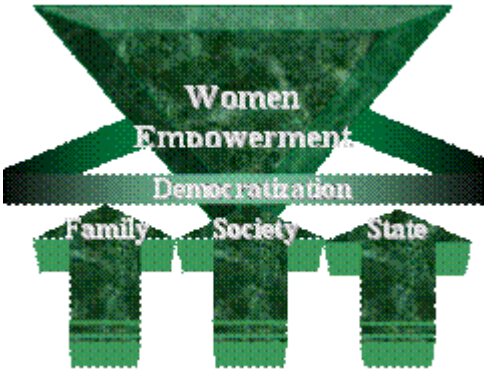
The PWDVA is a civil law, where the aim is to provide relief to the aggrieved woman. The magistrate can pass Protection orders, residence orders, compensation orders, grant monetary relief under this law.

For the first time, marital rape has been recognized as an offence under this Act.The Act also provides for appointment of Protection Officers and Registered Service Providers to aid the aggrieved woman in accessing justice.

The act, by and large, is a valuable piece of legislation. It provides protection to women, without considering their religion, and hence affords protection from discriminatory personal laws. The responsibility of the implementation lies on the executive , that would go on to prove the actual effectiveness of the Act.

Democratization for Combating Marital captivity

In order to effectively combat marital captivity, we must closely examine why our society has ignored or denied this issue. The most important reason is that in world men and women are not equal socially, economically or politically, in both private and public life. This inequality reflects the strong patriarchal structure of the family and society as a whole. This unequal status continues despite a constitution which clearly guarantees equality between the sexes.



The fallouts of the process of globalization and market forces on growing marital captivity against women can be combated effectively if the family and society give equal power to women and the state mediates and facilitates the democratization of the family by enacting gender just laws and formulating and implementing gender just policies and programs.

Women participation and access to resources is actually a manifestation of the democratic processes that exist within the Family, the Society and the State. The more democratic the structure, the more is the power given to women.

There are three steps to democratization for combating marital captivity:

a. Democratization of family to allow women to be equal partner in decision making
b. No discrimination between sexes in society
c. Equal representation of women in state

These three conditions must co-exist to eliminate violence against women. If one of these conditions is missing, violence remains in the life of women. For example In United States, the family is individualized, the society apparently does not discriminate between sexes, but the violence persists because the women are not equally represented in Parliament and decision making bodies.

In Sweden, women have reached in appreciable numbers in the Parliament and other decision making bodies. They are more or less equally represented in state structures. But this alone has not been able to curb violence.

In closed family system of highly industrialized nation such as Japan, women form an appreciable part of the work force. However, the family is not democratized and women are also not represented in equal number in state institutions. They continue to suffer violence.

Looking at India, the Indian family is highly undemocratic, women representation at state and national structures is negligible and the society is devoid of gender justice. However, in the wake of globalization, which is throwing new challenges, is there also a hope or a possibility of moulding the market forces to the advantage of the women? Possibilities such as where the family structures start to democratize, women come forward to participate in the political process and the society starts valuing the contribution of women.

Conclusion

The process of globalization is not new. The globalization of the economic, social, cultural and political structures happened in all ages. Earlier the pace of such a process was so slow that we hardly noticed it. However, today with the advent of the information technology, newer means of communication have made the world a very small place. Not only the pace of the globalization process, but the penetration and integration of the changes induced in our day to day life has made the impact of globalization many fold higher. With this process the world has become one huge market place.

However, fallout of such a process is that increasing marital captivity has been reported in most of the countries including industrialized nations, as a result of family fragmentation and loss of social support systems in marriage. Accompanying the increased burden for women is an increase in the level of all forms of violence, including marital captivity.

It has been seen that when the society imposes sanctions against the perpetrators of violence, the women are empowered to exert for their rights. Only when the family and the society are democratized, the status of the women is strengthened. At this time, not only the " self realization of own identity of being an individual" , it becomes the duty of the state to facilitate and strengthen the process. The solution lies in the fact that women empowerment approach to combat violence against women should be well

integrated and interwoven into all policies and programs of the governments. Women should be equal partners not only at the public places but should have adequate control of their own resources.

References

1. Rajalakshmi, TK. *Woman as Victim*. Frontline, Volume 24 - Issue 25: Dec. 22, 2007-Jan. 04, 2008
2. Women and Men in India, the Central Statistical Organisation (CSO), the Ministry of Statistics and Programme Implementation; 2006
3. National Crime Records Bureau Report, 2005. Accessed Online. http://ncrb.nic.in/home.htm
4. Social Visibility and Tolerance to Family Violence, Enrique Gracia, *Universitat de Valènci a Psychology in Spain, 2003, Vol. 7. No 1, 39-45*
5. National family Health Survey- 3, August 2009, International Institute for Population Sciences, Mumbai, India
6. Dave. A. &Solanki. G. Domestic Violence in India- A summary report of four research studies, Washington D.C. International centre for research on women